जीवन वि ार

(साहित्य-विषयक निबंध)

लेखक

श्री. हेब कालेलकर

अनुवादक

श्रीपाद जोषी



वोरा अेन्ड कं ी पब्लिशर्स लिमिटेड

२, राउंड बिल्डिंग, कालबादेवी रोड, बंबई २

प्रथम संस्करण, अक्तूबर, १९४७

मूल्य : रु. २)

विनय

साहित्य का महत्व वढता जाता है। अुसके साथ साथ साहित्य-कारों की संख्या भी वढती है। लोकशासन के दिनों में शिक्षा का सार्वत्रिक होना अनिवार्य है। पढने वालों की संख्या वढते ही अखवारों की आमदनी वढती है, अुनका महत्व चढ़ता है। अच्छे अच्छे लेखक अखवारो के संपादक वनके तनखा भी ठीक ठीक पाते हैं। पढ़ने का शौक़ वढ़ने के साथ अुपन्यास और लघुकथा की मांग वढती है। अच्छे से अच्छे लेखक, विचारक और तत्वचिंतक अपने सर्वोच्च विचार और समाजहित की सूचनाअें अुपन्यासों में ग्रथित कर के लोगों के सामने धरते हैं। अिस युग के सर्वश्रेष्ठ विद्वान और समाज-धुरीण भी अुपन्यासों के द्वारा समाज को अपने सिद्धांतों की दीक्षा देने की कोशिश करते हैं। साहित्य की शक्तिका आविष्कार और परिचय यहा तक वढा है कि राजकाज-धुरंधर मंत्री और युद्ध-कुशल सेनानी भी साहित्य की मदद के लिये लालायित रहते हैं। और धन की लालसा से विलास की चीज़ें पैदा करनेवाले कारखानदार भी अपनी अिश्तेहारों के लिये साहित्य की मदद खरीद लेते हैं। सचमुच आज का युग साहित्य युग है।

अैसे दिनों में कभी कभी साहित्य के आदर्श का चिंतन-मनन करना अनुपयुक्त नहीं होगा।

साहित्य मेरा क्षेत्र नहीं है। हालाकि मैंनें साहित्य का सेवन भी किया है और साहित्य की कुछ सेवा भी की है। लोका-शिक्षा और लोक-सेवा को ही मैं ने अपना स्वधर्म माना है। लेकिन अुसकी मदद में मैं ने साहित्य को वार वार वुलाया है। साहित्य-सेवियों की गोष्ठी में अनेक दफ़े जा वैठा ँ। अुन से विचार-विनिमय किया

है। फलस्वरूप साहित्य के आदर्श के बारे में और कार्य के बारे में जो भी कुछ सूझा मैंने समय समय पर शब्द बद्ध कर रखा। अुसका यह अनुवाद है। साहित्य के बारे में मैं ने गूजराती में जो कुछ लिखा, अुसका संग्रह "जीवन भारती" के नाम से प्रकाशित हुआ है। गुजराती मेरी जन्म भाषा तो नहीं है, लेकिन राष्ट्र-सेवाके २०–२५ वरस गुजरात में ही व्यतीत करने के कारण अुसी भाषा में लिखना मेरे लिये स्वाभाविक था। अुस "जीवन भारती" में से थोडे से लेख अिकट्ठा कर के श्री श्रीपाद जोशीने जेल में बेठे बैठे अुसका मराठी अनुवाद किया। मेरे गुजराती लेखों का, मेरी ही जन्म भाषामें दूसरा कोअी अनुवाद करें और महाराष्ट्री वाचकों को मेरे विचार अनुवाद के रूप में पढ़ने को मिले यह अेक अजीव सी घटना मालूम होती है। मराठी अनुवाद का अच्छा सत्कार होने के कारण श्रीपाद जोशीने गूजराती पर से यह हिंदी अनुवाद किया है। हिंदी न मेरी जन्म-भाषा है, न श्रीपाद जोशी की। लेकिन हिंदी शैली मराठी और गूजराती के बहुत ही नजदीक होने के कारण अिन दो भाषा के ग्रंथों को हिंदी में लाना बिल्कुल आसान है।

अिस सुगमता के साथ अेक खतरा भी अुठाना पडता है। अनुवादक को जब मराठी गूजराती और हिंदी—तीनों के ग्रंथ पढने का अभ्यास होता है तब वह तीनों के मुहावरों की देखते देखते खीचडी कर डालते हैं। और हिंदुस्तान का अनुभव है कि खीचडी का आहार बहुतों को प्रिय है। खास करके हिंदी वालों ने तो शुरू से ही खीचडी के सेवन का अभ्यास रखा है।

शुरू शुरू में बागला साहित्य का अनुवाद हिंदी में होनें लगा। और हिंदी की शैली बागला साहित्य शैलीसे पूर्ण रूपेण प्रभावित हुअी। 'विरक्त होना', 'स्पर्धा करना' जैसे बंगाली मुहाविरें; रुष्ट होना,

ढिटाअी करना, के अर्थमें हिंदी में चलने लगे। अर्दू म रूह शब्द स्त्रीलिंग है अिस लिये हिंदी में आत्मा को भी, संस्कृत परंपरा छोडकर स्त्रीलींग वनना पडा।

अब हिंदी ने कभी मराठी की और कभी गुजराती की खीचडी खाना भी शुरू किया है। संभव है कि साहित्य चर्चाके अिस संग्रह में पाठकों को मराठी और गूजराती दोनों के मुहावरों का हिंदी के साथ मिलान हुआ मिलेगा। हमारी सव प्रान्तीय भाषाओंका यही हाल होने वाला है। अिसलिये यहाँ की खीचडी-शैली के लिये प्रार्थना करने को जी नहीं चाहता। क्षमा तो तव मांगी जाती है जव आयंदा वैसा ही गुन्हा न करने का संकल्प हो।

मुझे अिस वात की क्षमा जरूर मांगनी चाहिये कि यहाँ पर मैंने मेरे चंद पुराने लेखों का ही संग्रह शाया होने दिया है। नया कुछ ि ने वैठुं तो कहने लायक वहुत वातें हैं किन्तु अुसके लिये समय नहीं है। और जो कुछ भी लिखा गया है, मेरे ख्यालसे, वह आज भी अुतना ही जरूरी है जितना वह लिखते समय अिष्ट माना गया था।

मूल के साथ अनुवाद का मुकावला मैं नही कर सका हूँ। आशा करता हूँ कि पाठकों को ि संग्रह में कुछ रुचिकर और हि र मसाला मिल जायेगा।

निबंध-सूची

: : : मेरे साहित्यिक संस्कार

पुराने ज़मानेमें वेदान्तकी जितनी चर्चा और मीमांसा चलती थी अुससे आजकी साहित्य-चर्चा कुछ कम नहीं है। आज साहित्यका तंत्र बहुत सूक्ष्म और अटपटा हुआ है। अिस तंत्रके अनुसार लिखना कोअी आसान बात नहीं है। अिस तंत्रकी तानाशाहीसे अूबकर बेचारा भवभूति बोल अुठा थाः—

'था व्यवहर्तव्यम् कुतो ह्यवचनीयता।
यथा ीणां तथा वाचाम् साधुत्वे दुर्जनो जनः॥

लेकिन आद्य साहित्यकारके सामने कौनसा तंत्र था? हर देश तथा समाजका आद्य साहित्यकार अनजाने ही साहित्यिक हुआ होगा, क्योंकि साहित्य बिलकुल प्राकृतिक प्रवृत्ति है। अवलोकन, निरीक्षण, विचार, कल्पना या भावना जब अुत्कट हो जाती है तब मनुष्यसे लिखा-बोला जाता है; और अुत्कटताका यह स्वभाव ही है कि अुसकी भाषामें कुछ असाधारणपन, कुछ आकर्षण, कुछ चमत्कृति आ ही जाती है। अुत्कटतामें स्वाभाविक सौन्दर्य प्रकट हुअे बिना रहता ही नहीं। यह शोभा पहले तो आप ही आप फूट निकलती है, लेकिन बादमें वह शोभा ही सारा ध्यान खींच लेती है और सराहनाका विषय बन जाती है। अुसमेंसे धीरे धीरे साहित्यका तंत्र बँध जाता है।

पहले तो लोकसाहित्यकी ही सृष्टि होती है। अुसमें धीरे धीरे प्रयत्नपूर्वक शोभा लानेसे शिष्ट साहित्य तैयार होने लगता है। लोक-साहित्यमें दो लक्षण हमेशा दिखाअी देते हैं; साहित्यशास्त्र और धर्मशास्त्रके कृत्रिम और निश्चित बन्धनोंमें वह नहीं बँधता। सामान्य लोकसमाजकी स्वतंत्र प्रवृत्ति और स्वयंभू प्रेरणाके वशमें जब तक

साहित्य रहता है तभी तक वह लोकसाहित्य होता है, सदाचार और सदभिरुचिकी जितनी रक्षा सहजरूपसे अुसमें की जाती हो अुतनेसे ही वह सन्तोष मानता है। प्रयत्नपूर्वक मर्यादाअें बाँधकर आग्रहके साथ अुनका पालन करने जाय़ँ तो लोकसाहित्यका लौकिक-पन मिट जाता है।

लोकसाहित्यकी बडी फ़सल आनेके बाद मनुष्यको अुसमें छलनी लगानेकी अिच्छा होती है। और अुसीमेंसे शिष्ट समाजका साहित्य बढ़ता है।

लोकसाहित्यकी स्वाभाविकता और ताज़गी मुझमें हो या न हो, शिष्ट–साहित्यका असर मुझपर पड़ा हो या न हो, मै तो अपनेको स्वाभाविक लेखकोंकी श्रेणीमें ही गिनता हूँ। अनुभव और चिन्तनसे जो कुछ और जैसा कुछ सूझे वही अुस अुस वक्त लिख डालना मैंने पसन्द किया है। प्रयत्नपूर्वक साहित्यसेवा तो मेरे हाथों हुअी ही नहीं। शिष्ट समाजमें विचरता हुआ भी मैं शिष्ट समाजका नहीं हो सका। जैसा कुछ अनगढ़ था वैसा का वैसा ही रह गया हूँ। मुझे अिसका दुख नहीं है क्योंकि अुस रास्तेसे ही मै अपने अपने-पनकी–फिर वह अपनापन चाहे जितना स्वल्प क्यों न हो–रक्षा कर सका हूँ। अनगढ़ मनुष्यको सामाजिक व्यवहारमें क़दम क़दम पर कडुवे अनुभवोंका सामना करना ही पड़ता है। अैसे अनुभव मेरे लिये दो नतीजे लाये। अेक तो यह कि मैं समाजसे अुकताकर कुदरतकी गोदमें जा पड़ा; और दूसरा यह कि मैं अन्तर्मुख हो गया। पहले पहले ये दोनों वृत्तियॉ साहित्यसृजन करने न देतीं थीं। अिसलिये यानी संयमके अुद्देश्यसे नहीं बल्कि आत्म-अविश्वास, लज्जा और मुग्धभावके कारण मैं साहित्यसे दूर ही रहा। विद्याध्ययनके दिनोंमें जो कुछ पढ़ना पड़ा और जो कुछ थोड़ा सा अपने असाधारण आकर्षणके कारण

नज़रमें जँच गया अुतना ही मैंने पढ़ा। अपनी साहित्य-शक्तिको बढ़ानेका जो क़ीमती मौक़ा था अुससे मैंने कोअी फ़ायदा नहीं अुठाया।

मुझमें अगर कुछ भी साहित्यशक्ति पैदा हुअी हो तो वह अपने अनुभव और विचार व्यक्त करनेकी अुत्कटतामेंसे ही हुअी है। और वह स्वाभाविक रूपसे संभाषणमें ही परिणत हुअी। काश, अुस वक्त मुझे वासरी (डायरी) लिखनेकी आदत होती! अपने अेक शिक्षकको मैंने अैसी वासरी लिखते देखा है। अुनकी वासरी पढ़नेकी हमें अिजाज़त थी, लेकिन अुसका आस्वाद लेने जितनी शक्ति हममें न थी; क्योंकि वे अपनी वासरी अंग्रेज़ीमे लिखते थे। अुसे अगर वे मराठीमे लिखते तो मेरे जैसे अनेक मुग्ध बालकोंको असाधारण लाभ पहुँचा होता।

अितना तो सही है कि चिट्ठी-पत्र और वासरी ही सामान्य जन-समाजका साहित्य है। मेरे ख़यालसे वही अुच्च कोटिका साहित्य है। दूसरोंसे कहने जैसा जितना कुछ हो अुतना ही हम ख़त-पत्रोंमें लिखते हैं और अपने जीवनमें जो कुछ दर्ज करने जैसा हो, यानी खासियत रखता हो, वही वासरी के पृष्ठोंमें आ जाता है। अैसी बढ़िया छलनीसे छनी हुअी कृतियाँ साहित्यका दर्जा हासिल करें तो अुसमें क्या आश्चर्य? साहित्यकार भले कहें कि नाटकान्तं कवित्वम्, अुनकी बात का विरोध मैं नहीं करता। सभी प्रकारकी विविधता और आकर्षकता नाटकोंमे स्वाभाविक रूपसे अिकट्ठा होती है। फिर भी मैं कहूँगा कि पत्रमूलं एवं वासरीमूलं च साहित्यम्। दोनोंमें वास्तविकताका बड़ेसे बड़ा आधार रहता है। आजकलके कृत्रिम युगमे पत्र और वासरी दोनों बनावटी ढंगसे भी लिखे जा सकते है। अुसका विचार यहाँ किसलिये करूँ? दुनियाकी कौनसी चीज़ विकृत नहीं होती? संभाषण और मनन जिस तरह अुत्कट व्यापार हैं अुसी तरह पत्र और वासरी दोनोंका लेखन अुत्कट व्यापार है।

हमारे बचपनमें साहित्य कंठ करनेका रिवाज बहुत था। स्कूलमें तथा घरमे लड़कोंसे बहुत कुछ कंठ कराया जाता था। लेकिन हमारी प्राथमिक शालाओंमें अुच्च अभिरुचिसे चयन कर देनेवाला कोअी न था। घरमें तो बालबोध और सकाम भक्तिसे चुना हुआ साहित्य याद करनेका रिवाज था। शामको मन्दिरोंमें पुराणिकोंका पुराण सुनने बैठें और रातको हरिदासोके संगीतामिश्रित हरिकीर्तनका मज़ा लूटने जायँ तभी साहित्यरसिकताका अखूट आस्वाद मिलता था। अुसमें भी अर्थालंकारकी अपेक्षा शब्दालंकार और श्लेषपर ही हमारे ये साहित्याचार्य कुर्बान होते थे।

घरमें सबसे बड़े भाअी संस्कृतके रसिया थे। बचपनमें अुन्हें पढ़ाने के लिये अेक शास्त्रीजी रखे गये थे। भाअीसाहब कभी कभी संस्कृतके अच्छे अच्छे फ़िक़रे पढ़कर सुनाते थे, घूमते-टहलते वक्त कंठ किये हुअे श्लोक गुनगुनाने की अुन्हे आदत थी। अर्थ भले ही समझमे न आये, लेकिन संस्कृत वाणी की ध्वनि के प्रति आदर और प्रेम तो मेरे मनमें बचपनमे ही अिस तरह जागृत हुआ था। आज भी मुझे अैसे दो फ़िक़रे याद है जिनका अर्थ मै समझ सका था। अेक है सावित्री–आख्यानका और दूसरा है शांकरभाष्य के अेक आसान अंश का।

अेक तरफ़ माताजीके मुँहसे सुने हुअे पौराणिक लोकगीत, दूसरी तरफ़ संस्कृत सुभाषित और बीचमे समायी हुअी पुराणिकोकी गरी–यह मेरा बचपनका साहित्यिक पाथेय था। दिलचस्पी आने लगी पांडवप्रताप, शिवलीलामृत, सन्तलीलामृत, भक्तिविजय हरि-विजय आदि मराठी काव्यग्रंथ पढनेमें और 'नवनीत' नामके मराठी काव्यसंग्रहमें आये हुअे मराठी कवियोंके गीत गाने में। अिस पुराने मराठी साहित्यके कारण मेरा शब्दसंग्रह बढ़ा और संस्कृत सीखनेकी पूर्व तैयारी हो गयी।

'संस्कृत शैली या लोकशैली?' का झगड़ा आजकल प्रत्येक प्रान्तमें चल रहा है। हमने यह झगड़ा यूरपसे मोल लिया है। लोक-भाषा, लोकसाहित्य और अुनके देशज शब्दोंकी मुझे कद्र है। यह मैं भी मानता हूँ कि अुनके अुद्धारके बिना लोकजागृति और लोकशिक्षा संभव नहीं है। फिर भी जो लोग यह कहते हैं कि संस्कृतकी धुरा फेंक दो और सिर्फ़ लोकभाषासे ही प्रेरणा लो, अुनसे मैं सहमत नहीं हो सकता। संस्कृत भाषा चाहे जितनी मुश्किल हो, अुसका व्याकरण चाहे जितना अटपटा हो, फिर भी वह हमारी भाषा है, हमारी बनायी हुअी भाषा है। अुसमें हमारी जनताका स्वभाव और अुसका मानसिक गठन प्रतिबिंबित हुआ है। अुसके पोषण के द्वारा ही हम संस्कृतिपुष्ट होनेवाले हैं। अंग्रेज़ोंके लिये जिस तरह ग्रीक या लैटिन परायी भाषाअें हैं अुस तरह संस्कृत हमारे लिये परायी नहीं है। हम अगर संस्कृतसे पोषण लेना छोड़ दें तो हम सभी तरह से क्षीण हो जायेंगे। हमारी सांस्कृतिक अेकता और सांस्कृतिक समृद्धिमें संस्कृतका हिस्सा सबसे बड़ा है। विशाल संस्कृत साहित्यका मंथन करके अुसमें से चौदह नहीं बल्कि चौदह हज़ार रत्न अपनी देशी भाषाओं में हमें लाने चाहिये, और अिस विरासतकी सुगंध हमारे तमाम लेखोंमें महकनी चाहिये।

साहित्यकी अुत्तम तैयारी साहित्य-विवेचनसे नहीं बल्कि सर्वश्रेष्ठ साहित्यके गहरे अध्ययनसे हो सकती है। साहित्य-विवेचन अुचित मात्रामें और बहुत देरसे आना चाहिये, वरना अभिप्राय और अभिरुचि असमय ही परिपक्व होते हैं।

और साहित्यका सर्जन तो विवेचनमें से हरगिज़ नहीं होना चाहिये। साहित्यके लिये जबर्दस्त सिसृक्षा और दूसरोंके साथ गहरा विचार विनिमय करने की आतुरता प्रधान प्रेरणा हो सकती है। माताका अपने बालकों के प्रति प्रेम, पतिपत्नीका अेक दूसरे के प्रति अनुराग

और गुरुशिष्यों के बीच का भक्तिवात्सल्य ये भावनाअें जितनी अुत्कट होती है अुतनी ही साहित्य सिसृक्षाकी वृत्ति भी अुत्कट और अदम्य है। यह सिसृक्षा अगर शुभ परिणामी न हो तो अुसे पागल-पनकी ही अुपमा दी जा सकती है। साहित्य आज जितना सस्ता हुआ है और बे समझेबूझे जितना ख़राब किया गया है अुतना अगर वह ख़राब न किया गया होता तो साहित्यने भारीसे भारी परिणाम दिखा दिये होते। शुभंकर साहित्य आत्माकी अमृतकला है, क्योंकि वह चैतन्यकी प्रेरणा है।

साहित्यकी सिसृक्षा और अुसका केवल आस्वाद लेनेकी रसिकता यह दो चीजे बिलकुल अलग अलग है। यह नहीं कहा जा सकता कि केवल रसिकतामेंसे सिसृक्षा पैदा होगी ही। सिसृक्षा स्वतंत्र प्रेरणा है। साहित्यकी सिसृक्षामें तमाम सिसृक्षाओंके लक्षण दिखाअी देते हैं। जिस तरह बाल-विवाह ख़राब है अुसी तरह छोटी अुम्रमें जल्दी जल्दीमें किया हुआ साहित्यसर्जन ख़राब है। दोनों में बड़ी अुम्र तक ब्रह्मचर्य यानी वीर्यरक्षा आवश्यक है। दोनों में तुलना करनी ही हो, तारतम्य निश्चित करना हो, तो 'वीर्यपातकी अपेक्षा वाक्पात अधिक अुग्र होता है।' अिस पुराने वचनको नये अर्थमे साहित्य पर भी चरितार्थ किया जा सकता है। यह कहना मुश्किल है कि साहित्य जैसी मंगल वस्तुमे मर्यादा किस तरह रखी जाय। फिर भी अितना तो समझ ही लेना चाहिये कि अतिसेवन ख़राबी पैदा किये बिना नहीं रहता। अतिसेवनसे शायद संस्कारिताकी चमक आ सकती है लेकिन तेज तो कभी नहीं आ सकता।

कुछ साहित्यवीरोंको हम अखंड सर्जन करते देखते हैं। यह अखंड साहित्यसृष्टिका अधिकार जीवनवीरा तथा ज़िन्दा मिशनरियों का ही है।

  

अध्ययनकालमें मराठी, संस्कृत और अंग्रेज़ी साहित्यके अुत्कृष्ट ग्रंथोंका असर मुझपर पड़ा। रवीन्द्रनाथ ठाकुर का ाहित्य और गांधी–साहित्य तो अुसके बाद आये। अिन दोनों राष्ट्र–पुरुषोंकी विभूतियाँ भिन्न भिन्न हैं। दोनों की साधनाअें अलग अलग हैं। लेकिन दोनोंके साहित्यका गहरा अध्ययन करने पर यह बात साफ़ हुअे बिना नहीं रहती कि दोनोंका दर्शन क़रीब क़रीब अेक-सा ही है। आधुनिकोंमें भांडारकर, रानडे, स्वामी विवेकानन्द, भागिनी निवेदिता, लाला हरदयाल, आनन्दकुमार स्वामी, बाबू बिपिनचन्द्र पाल, अरविन्द घोष, रवीन्द्रनाथ ठाकुर और गांधीजी-अितनोंका प्रभाव मुझपर अधिक से अधिक पड़ा है अैसा मै मानता हूँ। आश्चर्य यह है कि मैं लोकमान्य तिलकजीका भक्त होते हुअे भी और अुनके आन्दोलनमें शरीक होने पर भी अुनके साहित्यका मुझपर बहुत ही कम असर पड़ा। अुसमें कुछ न कुछ अैसा है जिससे मैं अुनका साहित्य हज़म न कर सका। अंग्रेजी साहित्यके बारेमें यहाँ कुछ भी लिखनेकी अिच्छा नहीं है। मैं अितना ही कह सकता हूँ कि अंग्रेजी साहित्यके प्रति मेरे मनमें गहरा आदर है, हालाँकि अुस साहित्यका सेवन तो मैं बहुत कम कर सका हूँ।

कवि हों या गद्यलेखक, अुन्हें जीवनका गहरा अध्ययन या दर्शन होना चाहिये और आजकल तो साहित्यकारके लिये मनोविज्ञान, समाज-विज्ञान, भौतिकविज्ञान और धर्मशास्त्रका विस्तृत अध्ययन करना ज़रूरी है। इस आदर्श तक जो पहुँचे हैं अुन्हींका साहित्य समाजपर गहरा असर कर सकता है। विवेकानन्द, निवेदिता, रवीन्द्रनाथ और गांधीजी मुझपर जो इतना प्रभाव डाल सके अुसका यही कारण है। अुनके हित्यने मुझे जीवन में प्रेरणा दी, हृदयको सांत्वना दी, और अुज्वल भविष्यकी झलक दिखलायी।

अितिहासकारोंका भी मुझपर गहरा असर होना चाहिये था। लेकिन जैसा अितिहास मै चाहता हूँ वैसा अितिहास मैंने नहीं देखा है। मेरी रायमें जो त्रिकाल हो वही यथातथ्य अितिहास लिख सकता है।

  

मेरे विचारसे हमारे देशके लिये रामायण ओर महाभारत अत्यंत पौष्टिक खुराक हैं। दोनों अलग अलग चीज़ें हैं। सिर्फ़ रामायणसे काम नहीं चलेगा। सिर्फ़ महाभारतसे भी काम नही चलेगा। यह दोनों संक्षेपमें भी नहीं पढे जा सकते, वह पूरे के पूरे ही पढ़े जाने चाहिये। साथही साथ अुपनिषद, योगसूत्र और मनुस्मृति पढ़ी जायँ तो हमारी बहुत कुछ तैयारी हो जायगी। अुसमें भी गीता पढ़नेके बाद ही अुपनिषदोका अध्ययन होना चाहिये। अमेरिकन लोगोंके लिये जो स्थान कोलंबसका है वही स्थान हमारी संस्कृतिमे अुपनिषद के आत्मवीरोंका है। हमारे साहित्य में अुपनिषद की कंडिकाओं और पालीभापाके बौद्ध संभाषणोंको सभी तरहसे हमारा मूलधन कहा जा सकता है। अुनके अन्दर ही हमें अपनी संस्कृति की गंगोत्री मिल जाती है। अुनमेसे प्राप्त होनेवाले जीवनदर्शनको अद्यतन करनेके लिये अुसमें भौतिकविज्ञान, संपत्तिशास्त्र, और समाजविज्ञान इन तीनों को जोड देना चाहिये।

साहित्यका विचार करते समय मुझे अैसा लगता है कि संस्कृत साहित्य के साथ अीरानका फ़ारसी साहित्य, प्राचीन यूरपका ग्रीक साहित्य और पूर्वकी तरफ हमारे लिये लगभग अज्ञात जैसा चीनी साहित्य–अिन सभी साहित्योंका गहरा अध्ययन होना चाहिये। प्राचीन संस्कृतिके अध्ययन के बिना अिस बातका पता न चलेगा कि आधुनिक कालकी ताकतें कितनी हैं, कैसी हैं और अुनका वीर्य कहाँ-तक पहुँच सकता है। हमारे यहाँ जितना अध्ययन अंग्रेजी साहित्यका

आ करता है अुतनाही अध्ययन जर्मन साहित्यका भी होना जरूरी है। लेकिन अुस बारेमें हम अभी तक लापरवाह हैं। यूनिवर्सिटियाँ अपने पाठ्यक्रम द्वारा जितना कुछ खिलायेंगी अुतना ही खा लेनेकी हमारी शिशुवृत्ति अभी नहीं गयी है। और जितना खाया जाता है अुतने का लाभ अपनी भाषाको देनेका फ़र्ज़ भी बहुत कम विद्वान अदा करते हैं।

इस संबंधी अेक छोटीसी घटना मुझे बहुत महत्वकी लगी है। बम्बअी सरकार ने अेक बार बम्बअी यूनिवर्सिटीसे पूछा था, कि 'संस्कृत के अध्ययनके लिये अगर हम कालेज खोलें तो क्या आप अुस कालेजके विद्यार्थियों को यूनिवर्सिटीकी अुपधियाँ देनेको तैयार हैं?' अुस वक्त यूनिवर्सिटीमें जो चर्चा अिस बारेमें हुअी अुसमें हमारे प्रिन्सिपाल परांजपेजीने अपनी यह राय जाहिर की कि 'यदि संस्कृतके साथ कुछ नहीं तो प्रीवियस (फर्स्ट अीयर आर्टस) जितना अंग्रेजीका ज्ञान होगा तभी हम अुपाधि देनेका विचार करेंगे' और अुसमें भी अुन्होने अिस बात पर जोर दिया कि 'संस्कृत सीख लेने के बाद अगर विद्यार्थी अंग्रेजी सीखने जाय तो वह नहीं चलेगा। अंग्रेजी विद्याके संस्कार हो जानेके बाद अगर कोअी संस्कृत सीख ले तो हमें अेतराज नहीं है।' अुनका विचार अुलटा था मगर आग्रह सकारण था। हमने अपने यहाँ शिक्षा के गर्भादानमें ही अंग्रेजी के संस्कार कराके अपनी विद्याको निःसत्व और हीनश्रद्ध बना दिया है। विद्यासंस्कारका प्रारंभ अगर स्वकीय भाषा और स्वकीय संस्कृति से ही न किया जाय तो हमारे लिये किसी भी प्रकार की अुम्मीद नहीं है। अैसा तो कुछ नहीं है कि जो अपना अपना धर्म छोडते हैं वेही सिर्फ परधर्ममें जाते हैं। स्वधर्म और स्वभाषा के संस्कारों से अगर बाल्य काल वंचित रहे तो अुसके जैसी हानि दूसरी कोअी भी नहीं है।

हमारे गठन में पहले स्वभाषा तथा अुसका साहित्य और अुसके साथ ही तथा अुसके द्वारा ही संस्कृत के संस्कार भी मिलने चाहिये। अुसके बाद राष्ट्रभाषा—जिसके द्वारा संस्कृत व पर्शियन दोनों का पूरा खमीर हमें मिलना चाहिये। अितनी तैयारी के बाद दूसरी चाहे जो भाषा और अुसका साहित्य ले लिया जाय तो वह पोषक ही होगा।

जहाँ भारतवर्षकी साधना सर्वसमन्वयकारी है हमारी यूनिवार्सिटियोंने लगभग ऐसा प्रबन्ध कर रखा है कि जो संस्कृत पढ़ें वह फ़ारसी पढ़ ही न सके और जो फ़ारसी पढ़ें अुन्हें संस्कृतसे विमुख ही रहना पड़े। केवल हिन्दुस्तानीके द्वारा ही हम गंगायमुना जैसी अिस सुरअसुरकी संस्कृतिका मेल करा सकते हैं। जिन्हे साहित्यके संस्कारोंको सर्वांगसुन्दर बनाना है अुन्हें संस्कृत और फ़ारसी दोनों साहित्योंके अुत्कृष्ट ग्रंथोंके अनुवाद हिंदुस्तानीमें कराने चाहिये और अैसा प्रबन्ध करना चाहिये कि वह दोनों लिपियोंमें अुपलब्ध हों। अिन दोनोंका जब अेकसाथ सेवन होगा तब हमारे साहित्यसर्जनमें अेक नया ही तेज आ जायगा।

२

पाठक देखेंगे कि 'जीवन भारती'में आया हुआ यह संग्रह फुटकर है। अैसे कालमें यह सब लिखा गया है जब कि मेरे शिक्षाविषयक प्रयोग चल रहे थे और साहित्य द्वारा शिक्षा देनेकी श्रद्धा कम हो गयी थी। अिसमेंसे कुछ तो मनोविनोदके लिये ही लिखा हुआ है, कुछ आग्रहके वश होकर लिखा है और कुछ खास खास अवसरोंपर लिखा है। अिसलिये अिसमें अैसा फुटकर चिन्तन बुना हुआ है जो अनायास आ सके। पिछले बीस बरससे साहित्यिक प्रवृत्तिके प्रति मैं अुदासीन

ही रहा हूँ। शिक्षाके काम से प्राप्त की हुआी फुरसतके वक्त यह सब लिखा गया है। अिसे स्कूलसे भाग जाने वाले विद्यार्थियोंके घुमक्कडपन जैसा स्वच्छन्द विहार समझा जा सकता है।

पुस्तकपरीक्षण या समालोचनाके विषयमें मेरे कुछ निश्चित विचार हुअे हैं। पुस्तकपरीक्षण ज्यादातर साहित्यकी दृष्टिसे होता है जो कि मुझे अुचित नहीं लगता। कलात्मक दृष्टि महत्वकी ज़रूर है, मगर वह साहित्यका सर्वस्व नहीं है। जीवन-दृष्टिसे ही साहित्यका परीक्षण होना चाहिये। धर्मशास्त्रकी दृष्टि, सामाजिक शिष्टाचारकी दृष्टि और कलाके तंत्रकी दृष्टि–तीनों अेकांगी हैं। मै मानता हूँ कि अिन तीनोंको मिलाकर जीवनकी दृष्टिसे साहित्यका परीक्षण करने का नया ढंग पैदा करना चाहिये। मुझे अिस बातका दुख है कि अपने विचारके अनुसार मैं यह काम न कर सका। अब भी अगर बीमार पडकर मैं पंगू हो जाअूँ तो संस्कृत, पाली, मागधी, ग्रीक, फ़ारसी, चीनी और जर्मन साहित्य खूब गहराअी में पैठकर पढ़नेकी अिच्छा है। और वैसा करनेके बाद जीवनदृष्टि अेकाग्र करके अगर मै साहित्यपरीक्षण लिख सका तो अपने स्वप्नजगत् की परीक्षण–पद्धतिकी झलक देख और दिखा सकूँगा।

कुछ लोग कहते है कि आधुनिक साहित्यकारोंमें प्राचीनोंसे अूँचा कोअी भी नहीं है। मैं अुनसे सहमत नहीं हूँ। सत्ययुग सिर्फ़ भूत-कालमें ही था अिस तरहके विश्वासका पोषण लोग करते है अिसी लिये अैसी विपरीत मनोदशा दिखाअी देती है। आधुनिकोंमेंसे भी कुछ लोग भव्य साहित्यका निर्माण कर सके है, और साहित्यसेवक जैसे जैसे रसास्वाद परायण न होकर जीवनपरायण होते जायेंगे वैसे वैसे साहित्यमें अनन्त जीवनानुभव और अनिरुद्ध जीवनविहार पाये जायेंगे।

हमारा जमाना पतित होनेपर भी अुसीमें से अद्‌भूत निर्मिति का सूचन होने लगा है। हिन्दकी आत्मा जागृत हुअी है। अभी तो वह

भले बुरे सभी संस्कार ले लेती है, लेकिन यथासमय अुसे अुसमेंसे ग्राह्याग्राह्य विवेक करना आ जायगा। हमारा समाज जैसे जैसे प्रयोगवीर होता जायगा वैसे वैसे अुसे शुभ दृष्टि मिलती जायेगी और अुसमेंसे अुसे भारतवर्षका मिशन मिल जायगा। अैसे प्रयोगवीरोंको ही स्वतंत्रता काम आती है। प्रयोगवीरोंमें ही निश्चयात्मक और तेजस्वी साहित्य प्रस्फुरित होता है। प्रयोगवीरों को ही भूतकाल का बोझ हलका लगता है और भविष्यकाल भयानक लगनेके बदले आकर्षक और अुज्ज्वल मालूम होता है। प्रयोगवीर ही मौलिक साहित्यका निर्माण कर सकते हैं और अुसके द्वारा सर्वोदय साध सकते हैं।

वर्धा :
२८।१०।३७

  

: : : पुराने खेतकी नयी जुताअी

अेक बूढ़े आदमीने अपने अन्त-समय पर अपने लडकोंसे कहा कि अुनके खेतमें कुछ गहराअीपर धन गड़ा हुआ है। लड़कोंने सारा खेत खोद डाला मगर वह धन न मिला। लेकिन अुस साल फसल अितनी अच्छी आयी कि अुसके सामने गड़ा हुआ माल मिलता तो भी वह नगण्य मालूम होता। गहरी जुताअीका फल मिल गया।

सामान्य लोग विचारक्षेत्रमें जबतक अूपर-अूपरसे ही हल चलाते हैं तबतक सामाजिक जीवन प्राकृत और क्षीण रहता है। अूपरक्षीण रहता है। जब जब 'धीर' लोगोंने अुक्त बूढ़े के लड़कोंकी तरह खूब गहराअीतक खोदा है तबतब विचार की अपूर्व फसल आयी

है। श्रीकृष्णजीने अेकबार अैसा किया था। अुसीसे भारतीय विचार-सागरमें अितना ज्वार आया। बुद्ध भगवानने अैसा कोअी भी प्रमाण मान लेने से अिन्कार किया जो आत्मप्रतीतिसे भिन्न हो, जिसके परिणामस्वरूप आर्य संस्कृतिकी ज्ञानाग्निपर जमी हुअी राख अुड़ गयी और आर्य विचार-राशि जगमगा अुठी। फ्रान्सके डिडेरो और दूसरे विश्वकोष–लेखकोंने विचारक्षेत्रको खोदखादकर यह देख लिया कि मनुष्य–समाज कौनकौनसे तत्त्वोंपर आधारित है। और तब यूरपमें क्रान्ति होकर आम वर्ग स्वतंत्र हो गया। मार्टिन ल्यूथरने अपने समयकी धर्म 'व्यवस्था'को आगमे झोक दिया जिससे समाजधर्मकी गंदगी साफ होकर स्वाभाविकता प्रतिष्ठित हो गयी। अिस तरह जब जब मनुष्य अंधपरंपराको फेंक दे कर छोटे मोटे हरेक पदार्थसे 'कोऽसि ?. तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यम्-?' अैसा सवाल पूछनेकी हिम्मत करता है तब धर्म-संस्करण होता है, जनतामे नया बल आ जाता है, विद्वानोंको नयी दृष्टि प्राप्त होती है और अिस दृष्टिका असर चौदह विद्या और चौसठ कलाओंपर पड़ता है।

आज हिन्दुस्तानमें अिसी तरहकी तत्त्वजिज्ञासा, धर्मजागृति और कर्म-विचिकित्सा झुलग अुठी है। प्रत्येक वस्तुका रहस्य हम खोजते है, जीवनका परम रहस्य नये सिरेसे जान लेते है और अुसे आचरणमें लाना चाहते है; नयी समाजव्यवस्था और नयी आचारविधियों द्वारा हम अुसे समाजमे दाखिल करना चाहते है और यह नया प्राण लेकर हम विचारकी दुनियापर शुद्ध व सात्त्विक दिग्विजय प्राप्त करना चाहते है।

आज कृष्ण और शंकराचार्य, बुद्ध और महावीर, चैतन्य और नानक, मेसाया और महादी, सभी नये नये अवतार लेनेवाले है, नये स्वरूप धारण करनेवाले हैं, शायद वह अेकरूप भी होंगे,

शायद अेक ही व्यक्ति अनेक रूप धारण करेगा; क्यों कि हम विचार-सागरको आन्दोलित करनेकी हिम्मत और कोशिश कर रहे हैं।

  

सौन्दर्यका मर्म

साहित्य की भाषा मानो अेक बर्तन है। साहित्यका मूल्य अिस बातसे निर्धारित होता है कि हम अुस बर्तनमें किस क़िस्मका माल भरना चाहते है।

कुछ लोग समझते हैं कि साहित्यकी सारी कल्पना अुसके रूप और सौन्दर्यपर रची हुअी है। कोअी भी विचार या कल्पना अगर आकर्षक रूपमें रखी हुअी हो, अुसमेंसे चमत्कृति पैदा होती हो तो वह साहित्य है। भारी से भारी मूल्यवान विचार या अनुभव और आसमानतक अुडनेवाली कल्पना अगर रोचक रूपमें न रखी गयी हो तो अुसे हम साहित्य न कहेंगे। अुसे दर्शन कहो, धर्मशास्त्र कहो या सन्तवाणी कहो। अुसे आप साहित्य नहीं कह सकते।

अिसके विपरीत अगर कोअी विचार बिलकुल मामूली हो, कल्पना छिछली हो, आदर्श हलका और समाजविनाशक हो, लेकिन अगर वह मनोरंजन करता हो और अुसका स्वरूप चित्ताकर्षक हो तो वह अुच्च कोटिका साहित्य कहा जायगा। मनोविनोद, चित्ताकर्षण और रूपलावण्य ही साहित्यका प्राण है।

अिसमें कोअी शक नहीं कि कोअी भी वाग्व्यापार अगर चित्ताकर्षक रूपमें पेश न किया गया होता तो हम अुसे सरस साहित्यके तौरपर नहीं पहचानते, लेकिन अगर अुस साहित्यमें आया हुआ

विचार हीन हो, अनुभव छिछला हो, और कल्पना सड़ी हुअी हो तो सिर्फ़ रूपपरसे ही हम अुसे अुत्तम साहित्य नहीं कहते।

अब ज़रा रूपका स्वरूप जाँच लें। कोअी भी युवक अथवा युवति शरीर और मनसे नीरोग हो, व्यायाम, संयम तथा प्रसन्नतासे अुसने अपने यौवनकी अच्छी रक्षा की हो तो अुसमें आप ही आप अमुक मात्रामें सौन्दर्य आही जाता है। यह सौन्दर्य साबुनसे, तरह तरहके खुशबूदार तेलोंका अिस्तेमाल करनेसे या नये ढंगके अनेक रंग और दवाइयाँ लगानेसे नहीं आ सकता। आरोग्य और यौवन स्वयं ही सुन्दर होता है। सुन्दरता और आकर्षकता अुसकी सहज सुवास होती है। लेकिन अिसके विपरीत अगर शरीर बीमार हो, मन विकृत हो, स्वभाव स्वार्थी, चिड़चिड़ा या अहंप्रेमी हो और यह सब छिपानेके लिये कपड़ोंकी सजावट, शिष्टाचारकी तमीज़ और हालचालके नाज़ व नखरों द्वारा सौन्दर्य लाया गया हो तो कुछ भूखे लोग अुस चमक-दमकसे भले ही आकर्षित हो जायँ, लेकिन जानकार, स्वच्छ अभिरुचि रखनेवाले लोग यह सारा प्रयास देखकर दुखी ही होंगे, अुनके मनमें ग्लानि ही पैदा होगी।

साहित्यका भी अैसा ही है। साहित्य जीवनका प्रतीक है। जीवन अगर नीरोग, प्रसन्न, सेवापरायण, प्रेमपूर्ण और पराक्रमी होगा तो अुसके सभी व्यापार आकर्षक और प्रभावशाली होंगे। जिस विचारमें आर्यता है, अुदात्तता है, सर्व मंगलकारी कल्याण की भावना है अुसका शब्दशरीर आप ही आप भाव-गंभीर, ललित-कोमल और प्रसादपूर्ण होगा। अुच्च साहित्य सुन्दर होता ही है, लेकिन सजधज करनेसे कोअी साहित्य अुच्च या शिष्ट नहीं होता।

अिसलिये केवल साहित्यकी अुपासना करने के बजाय अगर हम आर्य और प्रसन्न जीवनकी अुपासना करें तो साहित्यकी सुन्दरता

स्वयं ही फूट निकलेगी। वृत्तिकी आर्यता ही शिष्टाचार या तमीज़ की आत्मा है। निरा शिष्टाचार हास्यास्पद होता है या दिलको अकुता देता है। खोखली सौन्दर्योपासना अिससे अन्य कोअी असर पैदा नहीं कर सकती।

जिस साहित्यमें प्रगतिशील जीवनकी प्रेरणा अथवा प्रतिध्वनि हो वह साहित्य प्रगतिशील है। अैसे साहित्यमें और सब कुछ हो या न हो, अनुकरण तो हरगिज़ नहीं होना चाहिये। दूसरा कुछ हो या न हो, अुदेश्यका अभाव तो कभी नहीं होना चाहिये।

जून १९३७

  

साहित्यसेवा

मै साहित्यसेवी नहीं हूँ; साहित्योपासक भी नहीं हूँ। हाँ साहित्यप्रेमी जरूर हूँ। मैंने साहित्यका आस्वाद लिया है। अुसका असर मुझपर हुआ है। मैंने देखा है कि अुत्कृष्ट साहित्य बुद्धिको प्रगल्भ बनाता है, भावोंको सूक्ष्म बनाता है, अनुभवको घुनकर विशद करता है, धर्मबुद्धिको जागृत करता है, हृदयकी वेदनाको व्यक्त और तेजस्वी बनाता है, सहानुभूतिकी वृद्धि करता है और आनन्दको स्थायी बनाता है। अिस वजहसे साहित्यके प्रति मेरे मनमें आदर है। लेकिन मैंने अपनी निष्ठा साहित्यको समर्पित नहीं की है। साहित्यको मैं अपना अिष्ट देवता नहीं मानता। साहित्यको मैं साधनके तौरपर ही स्वीकार करता हूँ, और वह साधनके तौरपर ही रहे अैसा—अगर आप मुझे माफ़ करें तो कहूँ कि—मैं चाहता भी हूँ। गोस्वामी तुलसीदासजीके मनमें हनुमानजीके प्रति आदर था लेकिन अुनकी निष्ठा तो श्रीरामचन्द्रजीके प्रति ही थी।

अिसी तरह मै चाहता हूँ कि हमारी अुपासना जीवनकी ही हो। साहित्य तो जीवनरूपी प्रभुकी सेवा करनेवाले अनन्यनिष्ठ भक्तके स्थानपर ही शोभा देता है। वह जब अपनी ही अुपासना शुरू करता है तब वह अपना धर्म भूल जाता है। मनुष्य अगर अपने ही सुखका विचार करे, अपनी ही सहूलियतोंकी खोजके पीछे अपनी बुद्धि खर्च कर डाले और अपने ही आनंदमें स्वयं रममाण-मशगूल हो जाय तो जिस तरह अुसका जीवनविकास अटक जाता है और अुसमें विकृति पैदा होती है, अुसी तरह साहित्यके बारेमें भी होता है। जब 'केवल साहित्यके लिये ाहित्य' का निर्माण होता है, यानी लोग जब साहित्यकी केवल साहित्यके तौरपर ही अुपासना करते है तब शुरूमें तो यह सब खूबसूरत दिखाअी देता है, विशेष आकर्षक लगता है, जब तक अुसकी पूर्व-पुण्याअी खत्म न हो तब तक अैसा भी महसूस होता है कि अुसका बहुत विकास हो रहा है, लेकिन अंदरसे वह निःसत्त्व होता जाता है। साहित्यको अुसका पोषण साहित्यमेंसे नहीं बल्कि जीवनमेंसे, मनुष्यके पुरुपार्थमेंसे मिलना चाहिये। साहित्यमेंसे ही पोपण प्राप्त करनेवाला साहित्य कृत्रिम है, वह हमें आगे नहीं ले जा सकता।

अिस तरहके कुछ कुछ संकुचित या तंग विचार मैं रखता हूँ। अिसलिये 'केवल साहित्य' के अुपासकोंसे मैं डरता हूँ। अुनका देवता अलग है, मेरा देवता अलग। लेकिन साहित्योपासक बहुत अुदार होते है। हालाँकि मैं साहित्योपासक नहीं हूँ, फिर भी वह अिस बात को स्वीकार करते हैं कि 'अविधिपूर्वकम्' ही क्यों न हो, लेकिन मै साहित्यका यजन करता हूँ, और मै 'श्रद्धयान्वित' हूँ। अतः साहित्यके विषयमें अपने कुछ विचार आप लोगोंके सामने पेश करनेकी धृष्टता मैं कर रहा हूँ। आप सबकी अुदारतापर मुझे विश्वास है।

मनुष्यके विचार, अुसकी कल्पनाअें, भावनाअें, भावुकताअें अथवा भावुकताप्रधान अनुभव दूसरोंके सामने परिणामकारक तरीकेसे व्यक्त करनेकी शक्ति जिस वस्तुमें है वह साहित्य है—यह मेरी अपनी साहित्यकी परिभाषा है। मुझे मालूम है कि तार्किक लोग अेक क्षणमें अुसको छिन्नभिन्न कर सकते हैं, लेकिन अपूर्ण मनुष्यकी बनायी हुअी परिभाषाअें अगर अपूर्ण हों तो अुसमें आश्चर्य क्या ? जिसमें भावोंपर अनायास प्रभाव डालनेकी शक्ति है वह साहित्य है। सांसर्गिकता यानी छूतपन साहित्यका प्रधान गुण है।

यह प्रभाव अच्छा भी हो सकता है और बुरा भी। भावनाअें मनुष्य-जीवनका लगभग सर्वस्व होनेकी वजहसे अुनपर जिस वस्तुका प्रभाव पड़ता है अुस वस्तुकी तरफसे लापरवाह रहनेसे काम नहीं चलता। हवा, पानी, खुराक वगैरा शुद्ध रखनेका आग्रह जिस तरह हम रखते हैं या हमें रखना चाहिये अुसी तरह बल्कि अुससे भी ज्यादा आग्रह हमें साहित्यकी शुद्धिके सम्बन्धमें रखना चाहिये। शील की तरह साहित्यकी रक्षा जहाँ की जाती है वहाँ जीवन पवित्र, प्रसन्न और पुरुषार्थी होगा ही। अुच्चारणशुद्धि, हिज्जोंकी शुद्धि, व्याकरणकी शुद्धि आदि प्राथमिक बातोंसे लेकर साहित्यके प्रत्येक अंगप्रत्यंगमें शुद्धिका आग्रह होना चाहिये। लेकिन अुसमें कृत्रिमता न आये, वाह्याडंबर न आये, दंभ न आये, कर्मकांड न आये।

निर्व्याज मुग्धता शुद्धिका अेक पहलू है और संस्कारिता दूसरा पहलू। दोनों तरहसे शुद्धिकी रक्षा की जाती है। लेकिन अगर हम शिथिलताके ही हामी बन जायँ और हर तरहकी विकृतिको भी नजरअंदाज करनेको तैयार हो जायँ, अगर सामाजिक जीवनमें सदाचारका और साहित्यमें शुद्धिका थोड़ा भी आग्रह रखनेका जो कोई प्रयत्न करेगा अुसके खिलाफ आवाज बुलन्द करके अुसे चुप

करनेकी कोशिश करे तो अुससे समाजका पारावार नुकसान होनेवाला है। सामाजिक जीवनमें हो या साहित्यमें, शुद्धि रखनेकी जिम्मेदारी विशिष्ट श्रेष्ठ वर्गकी ही होती है। पुलिस या अदालतोंके ज़रिये सामाजिक सदाचारका सर्वोच्च आदर्श नहीं टिक सकता। साहित्यकी भी यही हालत है। समाजके स्वाभाविक अगुआ जब शिथिल हो जाते है, भीरु हो जाते है अथवा अुदासीन हो जाते है तब समाजको बचानेवाली कोअी भी शक्ति नही रहती।

साहित्यकी प्रवृत्ति हमेशा समाजसेवाके लिये ही होती हो सो बात नहीं। मानसिक आनंद, सन्तोष, झुंझलाहट या व्यथा को प्रकट करनेकी, शब्दबद्ध करनेकी जो सहजप्रवृत्ति मनुष्यमें है अुसमेंसे साहित्यका अुद्गम होता है। संगीतकी तरह साहित्यका आनन्द भी मनुष्य अकेले अकेले ले सकता है; फिर भी तमाम वाग्व्यापार सामाजिक जीवनके लिये ही है। साहित्यकी प्रवृत्ति प्रधानतया अपने भावप्रधान मनन अथवा अुद्गारोंको दूसरेमें संक्रान्त करनेकी अिच्छासे हुआ करती है। अिसलिये यह कहा जा सकता है कि साहित्य प्रधानतया सामाजिक वस्तु है। जीवनकी सभी अच्छी चीजोंकी तरह सच्चा साहित्य आत्मनेपदी भी होता है और परस्मैपदी भी। मनुष्यके सर्वोच्च सद्गुण अुसके सामाजिक जीवनमेंसे पैदा होते है। और तो और, अनन्यनिरपेक्ष मोक्षेच्छा भी सबोंके साथ आत्मौपम्य अनुभव करनेके लिये ही है, यानी अुसका प्रारंभ और अन्त सामाजिक जीवनकी कृतार्थताके साथ ही है। साहित्यके बारेमें भी अैसा ही कहा जा सकता है। जिस तरह गायनके साथ तंबूरकी आवाज़ साथ लिया ही करती है अुस तरह साहित्यके तमाम विस्तारमें जनहितका, लोककल्याणका सूर क़ायम रहना ही चाहिये। जो कुछ अिससे विसंवादी होगा वह संगीत नही बल्कि मानसिक कोलाहल है। वह साहित्य नहीं बल्कि मानसिक ज़हर है।

अेकबार हिन्दुस्तानके अैतिहासिक पुरुषोंकी सूचीमें मैंने श्रीमद् भगवद्गीताका नाम भी जोड़ दिया था। 'जिसके व्यक्तित्वकी छाप समाजपर अलग अलग समयपर अलग अलग ढ़ंगसे पड़ती है और अिसलिये जिसके चिरंजीवीपनका अनुभव हमेशा होता रहता है वह है व्यक्ति अथवा पुरुष', अैसी परिभाषा की जाय तो हम यह मान सकते है कि भगवद्गीताको राष्ट्रपुरुष कहनेमें औचित्यका कोअी भंग नहीं है। साहित्यके बारेमें भी यही बात है। अेक या अन्य प्रकारसे सामर्थ्य प्रकट करनेवाले व्यक्तिका हृदयसर्वस्व होनेके कारण व्यक्तिके प्रभावकी तरह अुस व्यक्तिके साहित्यका भी प्रभाव हुआ करता है। प्रभु, मित्र या कान्ताके साथ साहित्यकी तुलना करने-वाले साहित्याचार्योंने यही बात दूसरे ढ़ंगसे कही है। 'प्रभु'की जगह आज हम 'गुरु' शब्दको अधिक पसन्द करते है। गुरु, मित्र और जीवनसहचरी तीनों संबन्ध पवित्र हैं, अुदात्त है। साहित्यका विरुद (टेक) अैसा ही होना चाहिये। सामाजिक व्यवहारमें हम चाहे जिस आदमी को घरमें घुसने नहीं देते। चोर, शठ, पिशुन या भुजंग की श्रेणीके लोगोंको हम देहली के अन्दर पैर नहीं रखने देते। साहित्यके अूपर भी हमारी अैसी ही चौकी होनी चाहिये। अपवित्र मनुष्य चाहे जितना शिष्टाचारी क्यों न हो, अुसे जिस तरह हम अपने बालबच्चोंके साथ बगैर किसी रोकटोकके मिलने-जुलने नहीं देते अुसी तरह पापाचरणको अुत्तेजन देनेवाले साहित्यको भी हमें अपने घरमें घुसने नहीं देना चाहिये। घरसे बाहरके व्यवहारमें जहाँ सभी क़िस्मके लोगोंके साथ सम्बन्ध आता है वहाँ अच्छी और ख़राब बातोंको परखनेकी कला जिस तरह हम अपने बालकों को प्रदान करते है और अतिप्रसंगी (ज्यादती करनेवाले) मनुष्यको दूर रखनेको सिखाते हैं अुसी तरह साहित्यमें भी दुष्ट साहित्यके हावभावोंमें न फँसकर अुसे दूर रखनेकी कला हमें अपने बालकोंको सिखानी चाहिये।

लेकिन मैं जानता हूँ कि आजकी हवा अिस तरहकी नहीं है। शिष्टाचारकी पुरानी बाड़ें तोड़नेका ही प्रयत्न हमने शुरू किया है। अुनके स्थानपर नये आदर्शकी नयी मर्यादाअें तैयार नेकी हमें नहीं सूझी है। कृत्रिम या यांत्रिक ड़ोंकी हिमायत मैं भी नहीं करता। लेकिन समाजहृदयमें कुछ न कुछ आदर्श तो होना ही चाहिये और अुस आदर्शकी रक्षा करनेका आग्रह रखनेवाले समाजधुरीण भी चाहिये। वे अगर अपना यह स्वभावसिद्ध कुलव्रत छोड़ दें तो संस्कृति कैसे टिक सकेगी? संस्कृति तो अँगीठीकी आगकी तरह जबतक हवा चलती तभी तक टिकनेवाली चीज़ है। पुरुषार्थ ौर जागृतिकी चौकी के बिना अेक भी संस्कृति नहीं बची है। संस्कृतिको प्रकृतिके अूपर नहीं छोडा जा सकता। लेकिन आज तो अैसा ही लगता है कि मानो हम सामाजिक अराजकता ही पसन्द करते हैं। यह तो साफ जाहिर है कि पुरानी व्यवस्था अब नहीं टिक सकती, न टिकनी भी चाहिये। लेकिन पुरानीकी जगह नयी व्यवस्था रचने के लिये आवश्यक प्राणबल हमारे समाजमें होना चाहिये। नूनके अंकुश की बात मैं नहीं करता। मै तो अैसा ही मानता हूँ कि साहित्यपर कानूनका अंकुश कमसे कम होना चाहिये। सदाचारकी सर्वोच्च कोटिका विचार करके कानून नहीं चलता। कानूनकी आँखें स्थूल होती है, जड होती हैं और अुसके अुपाय असंस्कारी होते हैं। साहित्यपर अंकुश होना चाहिये लोकमतका। लोकमतका के मानी हैं संस्कारी, अुदार, चारित्र्यवत्सल समाजधुरीणोंका। अैसा कुछ करने के लिये आजका समाज तैयार नहीं है यह मुझे मालूम न हो सो बात नहीं। लेकिन यह कहना पड़ेगा कि अिससे समाज अपना ही नुकसान कर लेता है। 'नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम्' इ दलील की आड में हम सारी मर्यादाओंको छेद अुडाना तो नहीं चाहते?

साहित्य है कलाका ही अेक विभाग। अिसलिये कलाके नियम अिसपर भी लागू किये जाते है। कलाके लिये ही कला है, कला कभी भी किसी बाह्य वस्तुके अंकुशको स्वीकार नहीं करेगी—अैसा कहनेवाले केवल—कलावादी लोग नीतिके अंकुशका हमेशा मजाक अुड़ाते आये है। 'स्वात्मनि अेव समाप्त महिमा' अिस तरहकी यह कला देखते देखते निरर्गल, स्वार्थी बन जाती है। और स्वार्थके साथ सत्त्व कब टिका है? Art for Art's sake (कला कलाके लिये) की परिणति Art for the Artist's sake (कला कलाकारके लिये) में हो जाती है।

मेरा यह आग्रह नहीं है कि कलाको नीतिका अंकुश स्वीकारना ही चाहिये। लेकिन अिसका कारण अलग है। साहित्यके पास अुसका अपना गांभीर्य, अपनी प्रसन्नता और पवित्रता क्यों न हो? हास्य-विनोद अिन तीनोंका कोअी विरोधी नहीं है। अितना ही नहीं बल्कि वह अिन तीनोंको अुच्च कोटिको पहुँचाकर दिखाता है। अगर साहित्य स्वधर्मका पालन करे तो अुसे नीतिका अंकुश स्वीकारना न पडेगा। साहित्य जब हीन अभिरुचि के या कला-शत्रु विलासिताके शराबखानेमें जा पड़ता है तब नीतिको लाचार होकर अुसे वहाँसे अुठाकर घर लाना पडता है। स्वराज्यमें या सुराज्यमें सदाचारी और स्वयंशासित नागरिकोंको नगररक्षकोंसे डरनेका कोअी कारण रहता ही नहीं।

लेकिन कला और साहित्य अेक ही वस्तु नहीं है। सुन्दरता साहित्यका भूषण है न कि सर्वस्व। साहित्यका सर्वस्व, साहित्यका प्राण ओजस्विता है, विक्रमशीलता है, सत्त्ववृद्धि है। जीवनके विविध क्षेत्रोंमें पौरुषकी वृद्धि करनेमें ही साहित्यकी अुन्नति रही है।

क्या विषयसेवन समाजमें अितना क्षीण हो गया है कि विलासप्रेरक

साहित्यके द्वारा अुसे अुत्तेजन देनेकी आवश्यकता अुत्पन्न हुअी है? समाजकी तरह साहित्यको भी देहधारीके नियमोंके वश होकर अुच्च-नीच स्थितियाँ भुगतनी पड़ती है। जब समाजका सम्पूर्ण अुत्कर्ष हो चुका हो, अुसके कारण आनेवाली समृद्धि भी थक गयी हो, तब भले ही समाज विलासितामें डूबकर सर्वस्व खोनेको तैयार हो जाय; लेकिन जब पतित समाज मानवजातिपर आनेवाली सभी आपत्तियोंका दुर्दैवी संग्रहस्थान बन गया हो, करोड़ो लोग भूखसे या निराशासे तडपते हों, पुरुषार्थका जहाँ तहाँ भाटा ही दिखाअी देता हो और बरसातके दिनोकी काली रातकी तरह चारों ओर अज्ञान फैला हुआ हो, अैसे वक्तपर तो हृदयकी दुर्बलता बढ़ानेवाला, नामर्द वासनाओंको खूबसूरत करके दिखानेवाला और अनेक हीन वृत्तिओंका बचाव या तरफदारी करनेवाला हत्यारा साहित्य हम पैदा न करे!! चढनेसे पहले ही पडनेकी तैयारी कैसी?

सिंहासनबत्तीसी और बेतालपच्चीसीके वातावरणसे हम अभी कहीं बाहर निकले हैं, तो फिर अुसी वातावरणका सुधरा हुआ और आडंबरपूर्ण संस्करण निकालकर क्या हम चढ़ सकते है? दुर्गुणका कलेवर भलेही सुन्दर हो, अुसकी पोशाक भलेही प्रतिष्ठित हो, अुतने भरसे वह कम मारक साबित नहीं होता; बल्कि वह ज्यादा ख़तरनाक़ हो जाता है।

अपनी समाजव्यवस्थाकी सुन्दरताका हम चाहे जितना बखान करें, मगर अुसमे आज अेक त्रुटि स्पष्ट दिखाअी देती है। अेक जमाना था जब हम सब संस्कृतमें ही लिखते थे। अिसलिये हमारे प्रौढ और ललित विचार सामान्य समाजके लिये दुष्प्राप्य हुअे थे। लेकिन अुस अुक्त संत-कवि और कथा-कीर्तनकार वह सारा कीमती माल अपनी शक्ति के अनुसार स्वभाषाकी फुटकर दूकानोंमें सस्ते दाम बेचते थे।

मुगल कालमें अुर्दूकी प्रतिष्ठा बढ़ी और अरबी, फारसी भाषाओंसे कवियोंको प्रेरणा मिलने लगी। अंग्रेजी जमाना शुरू हुआ और अपनी सारी मानसिक खुराक अंग्रेजीसे लेनेकी हमें आदत पड़ गयी। अुसका अच्छा और बुरा दोनों तरहका असर हमारी मनोरचनापर पडा है; साहित्यपर तो पडा ही है। आजकलके हमारे अखबार और मासिक-पत्रिकाअें नये जमानेके विचार फुटकर भावसे बेचनेका काम करने लगी हैं। लेकिन अिन तीनों युगोंमें गरीब श्रेणीके लोगोंके लिये, देहातियों और मजदूरों के लिये, स्त्रियों और बालकों के लिये विशेष प्रयास नहीं हुआ है। अशिक्षित समाज में भी अुनका सामाजिक प्राण बहुत कुछ साहित्यका निर्माण करता है। हमारे संस्कारी देशमें साधुसन्तोंकी कृपासे अुसमें असुक वृद्धि हुअी तो अिससे आश्चर्यान्वित होनेका कोअी कारण नहीं। लेकिन ज्यादातर मध्यम श्रेणीका ही विचार हम हमेशा करते आये हैं। हम यह भूल गये है कि गरीब लोगोंका जीवन सन्तोषमय, आशामय और संस्कारमय करना हमारा धार्मिक कर्तव्य है। कुछ अिनीगिनी कहानियोंको छोड़ दें तो हमारी कहानियों, और अुपन्यासोंमें गरीबों के करुण काव्यमय जीवन का विचार भी नहीं होता। पुराणकारोंने जिस तरह अमृत, अप्सरा और अीर्ष्यासे भरे हुअे स्वर्गकी कल्पना की, अुस तरह आजकलके अुपन्यासकार अैसेही किसी बेकार आदमीकी कल्पना करते हैं जो वकील-बैरिस्टर हुआ हो, जिसने विलायतका सफर किया हो या वसीयतनामा से जिसको खूब पैसा मिला हो और अुसके आत्मनि संतुष्ट निरर्थक जीवनका सविस्तार वर्णन करते हैं। जातिभेद हमारे मनोरथोंमें भी अितना भरा हुआ है कि मध्यम श्रेणीके बाहरकी दुनियाको हम नहीं देख सकते। बिलकुल गरीब लोगोंका जीवन हमें दयापात्र किन्तु रहस्यशून्य लगता है। अीसपके अुस बारहसींगेकी तरह हम सिरपरके सींगोंके गरूरमें अपने पतले पैरोंका तिरस्कार करने लगे हैं;

या तिरस्कार करने जितना भी ध्यान हम अुनकी तरफ नहीं देते। कर्म और पुनर्जन्मके सिद्धान्तका आश्रय लेकर हम अपने अनाथ-द्रोहको ढँक लेते हैं, अनाथों की सेवा तो दूर रही, अुनका स्मरण तक हम नहीं करते। अंग्रेज कवि हूडके Song of tbe Sbirt (क़मीज़ का गीत) की बराबरी कर सके अैसा मौलिक काव्य क्या किसीने लिखा है ? अीसपके अुस बारहसींगेकी जो हालत अन्तमें हुअी वही हालत हमारी हमेशा होती आयी है। ैर अब तो विनाशकी घटाअें सिरपर मँडरा रही हैं। हमारा लोकप्रिय साहित्य हमारी सामाजिक स्थितिका सूचन करता है। जो कुछ दिलमें होगा वही होठोंपर आयेगा न ? ग़रीबोंकी मुश्किलें कौन कौनसी हैं, अुनका दर्द-दु: क्या है, अुनके सवाल कितने पेचीदा और विशाल हैं अिन सब बातों पर ज़िम्मेदारीके साथ विचार करके असली सवाल हल कर सके अैसी योजना जब होगी तभी ग़रीबोंके दिलोंमें कुछ आशा पैदा होगी न ? जिसकी हम अैरण चुराते हैं अुसीको अगर दानमें छोटीसी सूअी देते हों तो वह लेते समय लेनेवालेके दिलमें कैसी भावना अुत्पन्न होगी ? हमारा साहित्य अगर हमें अपना युगधर्म न बताये और अुस धर्म का पालन करने की प्रेरणा हमें न दे तो वह बाक़ी न तरहसे सरस होते हुअे भी अुसे विफल ही कहना चाहिये।

ग़रीबोंको बाहर रखनेके लिये जिस तरह हम किवाड बंद करके खाना खाते हैं और पंक्तिभेद का प्रपंच रचते हैं अुसी तरह हमने साहित्यकी विशिष्ट ठिन शैलियों को अपनाकर ज्ञानकी प्याअू में ज्ञातिभेद पैदा किया है। अुदात्त, अुन्नत विचार आम जनताको जिस आसानीसे मिलने चाहिये वह नहीं मिल सकते। हमारे साधुसन्तोंने ग़रीबीका ले लिया था; अिसी लिये वह ग़रीबोंकी सेवा कर सके और ग़रीबोंके लिये प्राणपूर्ण साहित्य लिख सके। हिन्दुस्तानकी सबसे बड़ी ताक़त अुसकी जन संख्या है। लेकिन हमने ग़रीबोंका द्रोह करके अिसी

चाहता। काव्यकी लम्बाओी-चौड़ाओीपर मैं अधिक जोर देना नहीं चाहता। लेकिन हमारे काव्यविषय अुत्तुंग अथवा गंभीर नहीं हुआ करते, हमारे काव्यविवेचन सर्वंकश और अुत्कट नहीं हुआ करते अैसी आलोचना मैं जरूर करूँगा।

साहित्य तो ज्यादातर व्यक्तिगत प्रयास ही है। वह जबतक गंभीर और दीर्घ अुद्योगके परिणामरूप न होगा तब तक छिछला ही रहेगा। ओीश्वरने असाधारण प्रतिभा प्रदान की हो तो भी वह शक्ति बीजरूप ही होगी। मनुष्यको कमसे कम मालीका काम तो ओीमानदारीके साथ करना ही चाहिये। साहित्यमें सहयोग के साथ काम किये बिना भी न चलेगा। सहयोगके लिये जो सद्गुण आवश्यक हैं अुन्हें अपनेमें लाये बिना अब एक कदम भी आगे बढ़ना मुश्किल है। सिद्धान्तका आग्रह, स्वभाव भेदको नजरअन्दाज करनेकी शक्ति, तफसीलमें अुतरनेकी कुशलता और अेक ही संकल्पको लम्बे अरसे तक चिपके रहनेकी दृढता—अिन सामाजिक सद्गुणोंका विकास अगर हम न करेंगे तो हमारे हाथों कुछ विशेष साहित्यसेवा हो ही न सकेगी।

यह तो हुओी साहित्यकी सेवा। किन्तु सच्चे साहित्यका निर्माण तो जनताके पुरुषार्थका ही फल है। 'कारभार (कारोबार) में दखल देनेकी अिजाजत न होगी तो करभार भी नहीं दिया जा सकता।' अिस जगविख्यात सूत्रके पीछे सिर्फ़ भाषासौष्ठव या अनुप्रासकी लज्जत नहीं है। अुसमें लज्जतकी अपेक्षा अमेरिकन जनताका पुरुषार्थ ही प्रमुख वस्तु है। साहित्यकी उन्नति जनताकी अुन्नतिके साथ ही होती है। आपके ज़िलेके किसानोंने गुजराती भाषामें जो वृद्धि की है वह अपनी दो-चार परिषदें भी न कर सकेंगी। 'हमने वल्लभभाओीके हाथों अपना सिर सौंपा है न कि नाक।' अिस वचनपर गुजराती जनताको हमेशा नाज़ रहेगा। 'हमारे खर्चेसे बन्दूकें और तोपें रखते

है मगर कभी दिखाते भी नहीं। हमारे लबच्चोंको बन्दूकों और तोपोंका मजा चखवायेंगे तो हमारी औलाद तो सुधरेगी।' यह अेक ही वाक्य गुजराती भाषाको वीर्यशाली बनानेके लिये काफ़ी है। साबरमतीके किनारे गांधीजीने ‌ौर बारडोली के खेतोंमें वल्लभभाअीने जिस भाषाको घड़ाया है वह भाषा अपनी स्वाभाविकतासे ही धीरोदात्त और प्रौढ़ बनी है। साहित्य तो जनताके पराक्रमका प्रसाद है। बूढ़ा मिशनरी टेलर हमसे कह गया है, 'यथा भाषकस्त तथा भाषा'। साहित्यकी अुन्नति करनी हो तो अपने जीवनको अुन्नत करो। साहित्य जीवनकी छाया है, जीवनकी सुगध है।

(ता. १५।९।१९२८ को सूरत-साहित्य-मंडलके वार्षिक उत्सव के अवसरपर दिया हुआ भाषण।)



: : : : साहित्योपासना

कोअी परीक्षामें पास हो जाय, किसीके घर लड़का पैदा हो, किसीका बिछुड़ा हुआ भाअी फिरसे मिल जाय, या किसीको लाटरीमें अीनाम मिल जाय तो अुस खबरका तार लानेवालेको वह कुछ न कुछ अीनाम देता है। मालिक को तारका महत्त्व जितना अधिक होगा अुतनी मात्रामें तार लानेवालेके विषयमें अेक प्रकारकी अुपकार-बुद्धि-सी अुसके मनमें रहती है। और अिसलिये अच्छा-सा अीनाम देकर अिस अुपकारकी पूर्ति करनेकी वह कोशिश करता है। असलमें देखा जाय तो तार लानेवालेका अुपकार कैसा? तारका मजमून बनानेमें अुसका हिस्सा थोड़ा ही हुआ करता है? मनिआर्डर या पारसल लानेवाले डाकियेकी हालत भी अैसी ही है।

फिर भी आनन्दमूढ़ होना मनुष्यका स्वभाव है। लेकिन अिस मनुष्यस्वभावके कारण अिनाममें मिला हुआ पैसा जेबमें डालनेवाला डाकिया अगर अपनी ही बड़ाअी महसूस करने लग जाय तो अुसके जैसा मूरख वही है।

अध्यापककी कुर्सीपर बैठकर विद्यार्थियोंके सामने सुन्दर साहित्य परोसनेका काम जो लोग करते है अुनके प्रति भी अिसी तरहकी कृतज्ञताबुद्धि विद्यार्थियोंके मनमें रहा करती है। साहित्यक्षेत्रमें अच्छे अच्छे फल चुननेमें अध्यापककी कुशलता, सदभिरुचि और विद्यार्थीका कल्याण समझनेकी सद्‌बुद्धि-अिन सब बातोंको महत्त्व है अिसमें कोअी शक नहीं। लेकिन अगर अध्यापक अैसा गर्व करेगा कि अुन परिपक्व साहित्यफलोंको मानो अुसीने जन्म दिया है, तो अुसका वैसा करना हास्यास्पद होगा।

अैसा मानना, कि हमें जिस वस्तुसे आनन्द हुआ अुसी वस्तुका हमारे कहनेसे-आस्वाद लेकर दूसरा आदमी अुतना ही आनंदित हो जाय तो वैसा करके अुसने हमारे आनन्दको दुगुना बनानेमें मदद दी—यह अुसीका हमारे अूपर अुपकार है’ शायद ठीक होगा।

  

जो हो, दुनियाकी तरफ़ देखनेकी दृष्टि और जीवनको अुन्नत बनानेका मार्ग जिस साहित्यमें विशद और सुभग ढंगसे व्यक्त हुआ हो वह साहित्य सिर्फ़ पढ़कर रहने देनेके लिये नहीं है; बल्कि अमृतमय रसायनकी तरह अुसका विधिपुरःसर आदर—युक्त सेवन करना पड़ता है। परन्तु जो अेक बार साहित्योपजीवी बन जाता है अुसे घी या खीर परोसनेकी दर्वी (चमची) की तरह सिर्फ़ परोसनेका आनन्द लेकर ही बैठे रहनेकी आदत पड़ जाती है। और वह अिसी बातका विचार करता रहता है कि वह मिठाअी किस तरह लोगोंके सामने परोसनेसे

परोसनेवालेको मिलनेवाली वाह वाह अुसको मिले। यह दवींव्रत निष्काम हो या सकाम, जीवनको अुन्नत करनेवाला तो हरगिज़ नहीं है।

साहित्य-अुच्च साहित्य-असलमें देखा जाय तो हृदयमें आभिजात्य उत्पन्न करनेका और जीवनको अुन्नत बनानेका अेक साधन-मात्र है। साहित्य का केवल प्रचार करनेकी अपेक्षा अुसे हज़म करके, अपना जीवन अुन्नत करके, सेवाद्वारा अुस जीवनकी सुगंधि फैलाकर समाजको और अपनेको कृतार्थ बनाना चाहिये। अैसी सेवा करते करते हमको भी किसी दिन सरस्वती वैखरीका अुपयोग करनेका मौक़ा मिल जाता है और हमारे हाथसे या मुखसे प्रसन्न साहित्यका निर्माण होता है। अिस ढंगसे होनेवाले साहित्यका प्रचार अपरिहार्य, सहज और शुभ-परिणामकारी होता है।

अच्छा साहित्य देखकर मनमें सिर्फ परोसनेवाले की वृत्ति जागृत नहीं होनी चाहिये; बल्कि 'अिष्टैः सह भुज्यतां' की प्राचीन आज्ञाके अनुसार या सामाजिक मनोवृत्तिसे अुसका सेवन करके अिष्टमित्रोंके साथ अपना जीवन अुन्नत और परिपुष्ट करने की तरफ ही हमारा झुकाव होना चाहिये।

यहाँ तक किये हुअे विवेचनमे कोअी असाधारण बात कही हो सो बात नहीं। लेकिन परोसनेकी वृत्तिका दोष आजकलके अध्यापक, लेखक, प्रचारक, कवि और पत्रकार सबमें बहुत बढ़ गया है और अिसलिये साहित्यका सेवन करके साधना द्वारा अुसे हज़म करके जीवनको अुन्नत बनाने की ओर अितनी लापरवाही होने लगी है कि अक्लमंद लोगोंको भी यह छोटीसी सूचना करनेकी जरूरत पैदा हो गयी है।

  

कोअी भी ग्रंथ पढ़ते वक्त ग्रंथकारकी वृत्ति और दृष्टिके साथ तदाकार होकर पढ़ना चाहिये। लेकिन ग्रंथके बारेमें कभी प्रामाण्य-बुद्धि अुत्पन्न नहीं होने देना चाहिये। ज्ञान चाहे जहाँसे, चाहे जैसा मिले तो भी तारतम्य बुद्धि तो अपनी ही होनी चाहिये। प्रत्येक ग्रंथका कालिक, देशिक और वैयक्तिक (व्यक्तिगत) संस्करण करना ही पड़ता है। यह जो कर सकता है अुसीका वाचन सफल और कृतार्थ होता है।

— हिंडलगा जेल, १९३२

: : साहित्यकी आजकी अेक कसौटी

संस्कारी लोगोंका पक्ष लेकर राजा भर्तृहरिने साहित्य, संगीत और कलासे विहीन लोगोंको बे सींग-और-पूछके पशु कहा है। यह लिखते समय भर्तृहरिके मनमें साहित्यके बारेमें कितना अूँचा खयाल होगा! आजकी प्रथाके अनुसार अगर हमने अुस साहित्य-स्वामीसे पूछा होता कि 'आपकी साहित्य की परिभाषा क्या है?' तो तुरन्त अेक वाक्यमें अुसने कह दिया होता, 'नरपशुको जो पुरुषोत्तम बना सकता है वह साहित्य है।' भर्तृहरिका 'अेकान्ततो निःस्पृह' पंडित न लोभ या कीर्तिसे ललचायेगा, न राजा से भी डरेगा। अैसे ही मनुष्योंको हम साहित्यवीर कह सकते हैं।

साहित्य दैवी शक्ति है। अिस शक्तिके बलपर निर्धन मनुष्य भी लोकप्रभु बन सकता है और महान् सम्राट भी राजदंडसे जो कुछ नहीं कर सकते अुसे शब्दशक्ति द्वारा आसानीसे साधता है। राजाको तनख्वाह देकर अपने यहाँ 'प्राणत्राणप्रवणमति' हृदयशून्य

सिपाही रखने पड़ते है। लेकिन साहित्यसम्राटके पास सहृदय सज्जनों-की स्वयंसेवी फौज हमेशा तैयार रहती है। सच्चा साहित्यवीर यह नहीं कह सकता कि फलाँ चीज मेरे लिये 'अशक्य' है । साहित्यकी दीक्षा लेनेके बाद अुसे तो प्रत्येक न्याय्य और धर्म्य कार्य अपना ही समझना चाहिये । सुखी लोग फुरसतके वक्त समय बितानेके लिये कुछ अच्छासा साहित्य पढ़ना चाहते है। अुसकी पूर्ति करनेसे और भाषा सौन्दर्यके नये नये प्रकार अुत्पन्न करनेसे साहित्यकी सेवा हो गयी अैसा कोअी न माने। लोगोंमें अुत्साह पैदा करना, लोगोंकी शुभवृत्तिको जागृत करना, और सरस्वतीके प्रसादसे लोगोंका धर्मतेज प्रज्ज्वलित करना साहित्यकारका काम है। सिर्फ जनरंजन करना, लोगोंमें जो जो वृत्तियाँ अुत्पन्न होंगी अुन सबके लिये पर्याप्त आहार दे देना साहित्यकारका धंधा नहीं है। 'अैसे लोगोंमें मै नहीं हूँ'—कहकर भर्तृहरिने गाया था:—

न   न ˋ टा न ग   न परद्रोह-निबद्ध-बुद्धयः' अित्यादि.

सौन्दर्यके साथ अगर शील हो तभी वह शोभा देता है, साहित्यके साथ सात्त्विक तेज हो तभी वह भी कृतार्थ होता है।

हमारे ज़मानेमें मानवताकी कसौटी करनेवाला अेक बडा सवाल हमारे सामने खड़ा है। प्रत्येक मनुष्यको वह कसता है—राजसेवकको तथा जनसेवकको, धर्माधिकारियोंको तथा अर्थाधिकारियोको, हिन्दुओंको तथा औरोंको। जिस तरह खेतोमें घूमते समय धोतीमें काँटे अुलझ जाते है अुसी तरह हमारे समाजमे, हमारी धारणाओंमें अस्पृश्यता घुस गयी है। वह जबतक जड़मूलसे निकल न जायेगी तबतक हमको शान्ति मिलनेवाली नहीं है।

राजनैतिक पुरुष कमर कसकर अुसके पीछे पड़े है। सामाजिक रूढ़ियोंके विषयमें अुदासीन रहनेवाले हमारे साधुसन्तोंनें अिस

अस्पृश्यताको बदनाम करनेके लिये अपनी प्रासादिक वाणीका प्रयोग किया है। महाराष्ट्रमे वैश्योंमें तुकाराम, और ब्राह्मणोमें गृहस्थाश्रमी अेकनाथ और ब्रह्मचारी रामदास अस्पृश्यताको बर्दाश्त न कर सकते थे। गुजरातमें ज्ञानी संत अखो और भक्तशिरोमणि नरसैया अस्पृश्यता को दूर करनेके लिये धर्मवीरकी तरह लडे है। आजके ज़मानेमें श्रद्धामूर्ति श्रद्धानन्दजीका बलिदान भी अिसीलिये हुआ है। साहित्य-वीरोंको भी आज अपनी शक्ति-शक्तिसर्वस्व-अिसी धर्मकार्यमे लगानी चाहिये। अस्पृश्यतानिवारण हमारा युगधर्म है। अिससे पहले कि हम मर जायँ, अस्पृश्यता मर ही जानी चाहिये। वरना सनातन धर्मके भी टिकनेकी आशा नही है।

अब देखना है कि आजका साहित्य अिस अेक वीरकर्मकी सफलता के लिये क्या क्या करनेको तैयार है।

—सन् १९२९

  

: : : ब्राह्मी साहित्यकार

अिस विशाल विश्वमें हमारे लिये जीवनसे श्रेष्ठ कोअी भी वस्तु नही है। हम जो कुछ देखते या सुनते है, जो कुछ हमारे मनमे या अनुभवमें आता है वह सब जीवनके क्षेत्रमें आ ही जाता है। कल्पना-सृष्टि और आदर्श-सृष्टि भी जीवन-जगतके दो खंड ही है और अज्ञात अनन्त तो जीवन-जगतका क्षितिज कहा जा सकता है।

और मरणको क्या हम जीवनक्षेत्रके बाहरका समझेंगे? नहीं, हरगिज़ नहीं। मरण भी जीवन ही की अेक अुत्कृष्ट विभूति है। जीवनमें

जो कुछ अपूर्ण रह जाता है वह मरणमें पूर्ण और कृतार्थ होता है। मरण के बारेमें हम ज़रूर कह सकते हैं :—

येथे नाहीं झाली कोणाची निरास। आल्या याचकास कृपेविशीं॥

(यहाँ तो चाहे जो याचक आ जाय, अुसकी कभी निराशा नहीं हुआ करती। सबके अूपर अुसकी अेकसी ही कृपा रहती है।)

दिन और रात मिलकर जिस तरह पूरा दिन (रोज़) होता है अुसी तरह जीवन और मृत्यु दोनों मिलकर सम्पूर्ण जीवन होता है। दिनके वक्त सर्वत्र सफ़ेद अँधेरा फैला होता है और अिसलिये हम सिर्फ अेक सूर्य और अेक पृथ्वी तकही देख सकते है। रातके वक्त काला निर्मल प्रकाश चारों ओर फैल जाता है जिससे आकाश खुला हुआ दिखाअी देता है, विस्तृत मालूम होता है, अुस प्रकाशमे हम अनेक पृथ्वियाँ और अनन्त सूर्य देख सकते हैं। रात्रिका वैभव दिनके वैभवकी अपेक्षा कअी गुना अधिक होता है और अिसीलिये अनन्त सूर्योंके दर्शन अेक साथ होते हुअे भी हमे अुनमेसे किसीका भी ताप सहना नहीं पड़ता। अनन्त कोटि सूर्य अेकत्र चमकते है, फिर भी वह हमें शान्ति ही प्रदान करते है!

  

जिस तरह मनुष्य अपने बचपनमें स्कूलमे बहुत से सबक़ सीखता है और बड़ा होनेपर व्यापक जीवनमे अुन्हें अुपयोगमे लाता है या प्रयोगशाला मे छोटे छोटे प्रयोग करके बादमे लोकव्यवहारमें अुन प्रयोगोंका विस्तार करता है, अुसी तरह हम अपनी सारी आयुमे जो व्यक्तित्व और अध्यात्म आत्मसात् करते है अुसीको मरण के द्वारा व्यापक और बृहत्तम बनाते हैं। अिसीलिये अैसा कहा जाता है कि मरण तो जीवन का नया और अुत्कृष्ट संस्करण है। जीवन और मरण मिलकर जो अेक बृहत्तम वस्तु बनती है अुसीको ब्रह्म कहा जाता है।

अुससे अलग कुछ भी नही; * अुससे अुच्च कुछ भी नहीं। अनन्त से अधिक अुच्च क्या हो सकता है? अनन्तकी ओर देखनेके पहलू अनन्त होते हैं, लेकिन मूल वस्तु तो 'अेकमेवाद्वितीयम्' ही है।

ॐकार प्रणव जिस तरह परब्रह्मका वाचक है अुसी तरह साहित्य भी जीवनका—सम्पूर्ण जीवन का—वाचक हो सकता है। अितनी बड़ी प्रतिष्ठा साहित्यकी है। लेकिन अुसकी साधना अत्यन्त सावधानीसे, अुचित ढंगसे होनी चाहिये। जिस तरह मूर्तिकी प्राणप्रतिष्ठा करनेके बाद ही अुसे देवत्व प्राप्त होता है, अुसी तरह साहित्यकी प्राणप्रतिष्ठा करनेके बाद ही अुसे प्रणव-पूज्यता और वाचाशक्ति प्राप्त होती है। प्राणप्रतिष्ठा करना अेक दैवी विद्या है, अमर-कला है। यह विद्या, यह कला जिसने प्राप्त की है अैसा कवि शायद ही मिलता है, कविका नाम धारण कर मुर्गेकी तरह छाती निकालकर अिधर अुधर भटकने-वाले पामर जीव अनेक है। अुनकी तो हम बात ही छोड़ दें।

प्रतिभाशाली चित्रकार सृष्टि सौन्दर्य को चित्रित कर अुसे स्थायी बनाता है। यूँ तो सृष्टि-सौन्दर्य हम अपनी आँखों देखते ही है, अुसे चित्रबद्ध करनेकी क्या जरूरत? ज्यादा से ज्यादा अेकाध छाया-चित्रकार (फ़ोटोग्राफ़र) की मदद लें तो काफ़ी है। लेकिन चित्रकारका कार्य तो कुछ और ही है। वह यह सिखाता है कि प्रकृतिका सौन्दर्य आँखसे नहीं अपितु हृदयसे कैसे देखना चाहिये। प्रत्येक सृष्टिकी जगह वह प्रति-सृष्टिका निर्माण करता है। अुसकी बनायी हुअी अिस नवीन सृष्टिका जीवनमें अन्तर्भाव होनेपर भी वह साफ़ तौर पर जीवनसे अलग ही दिखाअी देती है; और नित्यके अनुभूत जीवनपर कुछ और ही अलौकिक प्रकाश डालती है। चित्रकारकी प्रतिभा अन्तर्बाह्य विश्वको हृदयस्रोतमें शराबोर कर रसस्निग्ध बनाती है।

अिसीलिये तो रसिकों की दृष्टिमें चित्रकार तीर्थरूप बन जाता है। अिस तरहके अुच्च कोटिके चित्रकार दुनियामें बहुत ही कम हुअे हैं। नाम-मात्रके चित्रकार तो हर घर की दीवार पर लटकते या प्रत्येक प्रकाशन के अँधेरेमें सोते हुअे दिखाअी देते हैं ।

सच्चा साहित्यकार सबक नहीं सिखाता, बल्कि दृष्टि देता है। अिसी लिये शिक्षकके पदपर बैठे बिना ही वह गुरुस्थान प्राप्त करता है। किसी अंधेका हाथ पकड़कर अगर अुसे हम एक कमरेमें ले जायँ और वहाँकी प्रत्येक वस्तुका उसे स्पर्श कराके अुस कमरेका परिचय दिला दे तो वह उसमें आसनीसे रह सकता है और अपना नित्यका व्यवहार भी चला सकता है। लेकिन अितना झंझट करनेके बजाय अगर हम अुस अंधेको दृष्टि दे सके तो अेक क्षण पूर्वका वह अंधा कमरेकी सभी वस्तुओंका मानो स्वामी बन जायगा। फिर तो अुसे कमरेकी हर चीज़का परिचय करानेकी जरूरत नहीं रहती। अब तो वह हमारा आश्रित नही, साथी बन गया।

साहित्यकी महिमा अैसीही है। साहित्य पाठ नहीं पढाता, दृष्टि देता है। साहित्य जीवनका सिर्फ़ अुद्दीपन है, रहस्योदघाटन है, साक्षात्करण है।

हे साहित्यगुरो परमात्मन्, तेरे अवतारके सदृश बाली साहित्यकार अिस दुनियामें भेज दे। दुनिया आपद्ग्रस्त है, अुसे शान्ति प्रदान कर; अुसे कृतार्थ कर।

—फ़रवरी १९३७

  

[जव जव मैं यंवअी और पारला जाता था तव तव श्री नरसिंहराव भाअी के दर्शन का कोअी मौका मिलता तो अुसे हाथ से जाने न देता था। गांधीजीके हीरक-महोत्सव के अुपलक्ष्यमें श्री अुमाशंकर जोषीने 'विश्वशान्ति' नामक खंडकाव्य (गुजराती में) लिखा। मैंने अुसकी प्रस्तावनाके रूप पाठकोंको 'आमंत्रण' लिखा और हम दोनोंने वह किताव नरसिंहराव भाअीके पास भेजी। थोड़े दिन वाद जव मैं अुनसे मिला तव अुन्होंने कहा, 'अुस किताबकी आलोचना मैंने लिखी है, अुसे 'वसन्त' में देखे।' 'वसन्त' का अुक्त अंक प्रकाशित होनेसे पहले ही मैं जेल चला गया। वाहर आनेके कअी दिन वाद वह अंक हाथमें आ गया। अुसमें अुन्होंने मुझसे अेक सवाल पूछा था। अुसके जवावमें मैंने नीचे का पत्र लिखा था। प्रत्युत्तरमें वह कुछ न कुछ लिखेंगे अैसी आशा,—नहीं, लगभग विश्वास ही था। दूसरी वार जव मैं अुनसे मिलने गया तव तो अैसा खयाल था कि वह यह चर्चा छेडेंगे ही। लेकिन अुस वक्त समयाभावके कारण वैसा न हो सका।

नरसिंहराव भाअीने अपनी वह आलोचना 'भावी युगनुं साक्षरदर्शन' के शीर्षकसे प्रकाशित की है। वह मैंने अभी अभी 'मनोमुकुर : भाग बीजो' में देखी। अिस-लिये अेक जगहसे अूपर अुल्लिखित अपने पत्र की नकल प्राप्त कर अेकाध शब्दके परिवर्तनके साथ अुसे यहा दे रहा हूं।

नरसिंहराव भाअी जव जीवित थे तव दिल में यह संकोच था कि जवतक अुनका जवाव न आये, यह पत्र कैसे प्रकाशित किया जाय? अब अुनके स्वर्गवासके वाद तो अैसा पत्र प्रकाशित करते समय अुससे भी अधिक संकोच होता है। लेकिन वे तात्त्विक चर्चाके रसिक थे और चाहते थे कि मतभेद खूब छने जायँ। फिर पत्र भी पूर्ण आदरभावके साथ लिखा हुआ है, अिसलिये अिसे प्रकाशित कर रहा हूं। ले०]

सत्याग्रहाश्रम, वर्धा।
१५-१०-१९३३

मुरब्बी श्री नरसिंहरावभाअी,

चि. अुमाशंकर जोषीके 'विश्वशांति' काव्यपर आपने 'वसन्त' में जो लिखा था अुसे देखनेकी बड़ी अुत्सुकता थी। जेलमे होनेकी

वजहसे अुस वक्त 'वसन्त' का वह अंक हाथमें न आने पाया। आखिर किसी मित्रने अुसे कहींसे ला कर मेरे पास भेज दिया सो मुझे परसों मिल गया। गुजरात विद्यापीठके अेक नवयुवक कवि की गुजरातके समर्थ विद्वान्‌की तरफसे जो क़द्र हुआी अुसे देखकर यदि हर्ष हुआ हो तो अुसमे आश्चर्य क्या?

आपका यह कथन, कि कवितामे सौष्ठव या लालित्य की अपेक्षा भाव तथा नादकी गंभीरता विशेष है, बिलकुल सही है।

मैने अपना 'आमंत्रण' अैसे ही पाठकोंके लिये लिखा था जो अिस प्रकारकी कविताका आस्वाद लेनेके लिये अुत्सुक हों। अिस 'आमंत्रण' की अंतिम कंडिकामे मैने जिस गांधीयुगकी ख़ासियत की तरफ़ अिशारा किया है वह शैलीकी दृष्टिसे नहीं बल्कि आदर्शकी दृष्टिसे है, और वह आदर्श भी साहित्यका नही बल्कि जीवनका है।

साहित्यकी शैलीके विषयमें मेरा यह मत है कि जीवनका संगीत जितना समृद्ध होगा अुतनी शैलीकी विविधता साहित्यमें आ ही जायेगी। जैसा विषय, जैसा विवेचन और जैसी विवेचक की वृत्ति होगी वैसी शैलीका निर्माण आप ही आप होगा। किसी अुत्सवके अवसरपर अगर मैं प्रवचन करता हूँ तो अुस वक्त जिस शैलीमे बोला या लिखा जायगा वही शैली विनोदलोलुप विद्यार्थियोंकी वाग्‌-वर्धिनी सभामें लाना चाहूँ तो भी न आयेगी। पॉल रिशार भारतवर्षको अपना सन्देश विशिष्ट शैलीमे सुनायेगा तो अुसकी आलोचना और अभिनन्दन अुसके अनुरूप शैलीमें ही निकलेगा। लेखक और वक्ता की शक्ति और वृत्तिकी गहराअीकी त्रुटिकी मर्यादा तो हमेशा रहेगी ही।

गुजरातके विद्वानोंने गुजराती भाषाकी आजतक जो सेवा की है वह अुपेक्षणीय तो हरगिज नही है। श्री नर्मदाशंकरने लोगोंके वहमो और ख़राब रूढ़ियोके खिलाफ़ जो आवाज़ बुलन्द की अुससे क्या

जनताकी सेवा नहीं हुअी ? आचार्य आनन्दशंकर ध्रुवने हमारे धर्मका रहस्य खोल दिया—यह सेवा क्या कम है ? 'अभंगमाला' मे जो भक्ति-भाव प्रकट हुआ है अुससे क्या हृदय अुन्नत नही होता ? अंबालाल साकरलालने अपने लेखों द्वारा समाजका मार्गदर्शन करनेका जो जो काम किया वह क्या नगण्य है? जिन जिनकी साहित्य-सेवाके विषयमें मेरे मनमे आदर है अुन सबका यहाँ अुल्लेख करनेका मेरा अिरादा नहीं है। मैं यहाँ किसी साहित्यसभाके अध्यक्षका भाषण लिखने नहीं बैठा हूँ। मै तो अेक अेकनिष्ठ साहित्याचार्यको नम्रताके साथ पत्र लिख रहा हूँ।

गांधीयुगमे न केवल गांधीजीकी किन्तु देशके सभी प्रान्तोंके अनेक देशसेवकोंकी तपस्याकी परिणति दिखाअी देती है। लोकमान्य तिलक, रानडे, गोखले, भांडारकर, रवीन्द्रनाथ, अरविन्द घोष, स्वामी विवेकानंद, लाला लाजपतराय, हरदयाल, श्रीमती बेसंट, सर राधाकृष्णन, आनन्दकुमार स्वामी, भगिनी निवेदिता आदि अनेक समाजसेवकोंने जो चिन्तन और पराक्रम किया अुसका परिपाक ही गांधीयुग है। गांधीजीको मै अेकाकी भारतसेवक नहीं मानता। अुनकी प्रतिभा राष्ट्रकी अिन अलग अलग शक्तिओंका समन्वय कर सकी और अुन्हें लोकजागृति, धर्मसंस्करण और स्वराज्यप्राप्ति की दिशामे अेकाग्र कर सकी, यही अुनकी विशेषता है। गांधीयुगकी बुनियादमें और और अनेक वस्तुओंके साथ विद्वानोंकी साहित्यसेवाका भी जरूर स्थान है। गांधीयुगकी महिमा कोअी गांधीजीकी महिमा मात्र नहीं है। वह तो भारतवर्षके भाग्योदयकी महिमा है। गांधीजीका नाम तो संज्ञारूप और अन्वर्थक है।

जिस देशकी अधिकांश जनसंख्या अनपढ़ है, जहाँ की जनता नये जमानेमे पुरानी खानदानीके संस्कार और आदर्श बड़ी

तेज़ीसे भूलती जा रही है, नये संस्कार संगठित रूपमे अभी जनतामें दाखिल नहीं हुअे हैं और जहाँ हिन्दू, मुसलमान, पारसी आदि भेदोंके कारण जनता ओतप्रोत होनेसे अटकती है वहाँ यह नितान्त आवश्यक है कि इन सबको ध्यानमें रखकर लिखे हुअे लेख, रचे हुअे गीत और किये हुअे भाषण बिलकुल सादी शैलीमें हों। सबसे पहले गांधीजीने हमे यह बता दिया कि सादी शैलीमे सभी प्रकारकी संस्कारिता, विचारोंकी गहराअी और चरित्रका बल आ सकता है। वल्लभभाअी तो देहातियोंके सरदार ठहरे। लेकिन अुन्होंने अपने भाषणोमें जो तेजस्विता, बन्दूककी गोलीकी तरह आरपार जाने की शक्ति और तीखा परिहास आदि गुण प्रकट किये है अुनपर तो गुजरातकी जनताको हमेशा नाज़ रहेगा। 'विश्वशान्ति' और अुसे पढ़नेके लिये लिखा हुआ 'आमंत्रण', श्री खबरदार जैसे अिने गिने अपवादोंको छोडनेपर, कितने पारसी समझ सकेंगे? मैं कुछ लिखूँ और आदरणीय अब्बास साहब या डाक्टर रजबअली यदि अुसे न समझ सके तो क्या मुझे अुनको दोष देना चाहिये या अपनी भाषामें सुधार करना चाहिये? बहुतसे लोग कहेंगे कि यह दोनों बातें नहीं की जा सकतीं; और आज तो मुझे यह बात स्वीकार करनी पडेगी।

समाजभेद के अनुसार भाषा भिन्न होती है, अगर हम सब अेक दूसरे, मे ओतप्रोत हो जायँ तो हमारी भाषा धीरे धीरे अेकरूप होती ही जायेगी। दुःखके साथ कहना पड़ता है कि गांधीयुग से पहले के समाज–सुधारकोंने समस्त जनताको अेक दूसरे के साथ ओतप्रोत होनेकी ओर मार्गदर्शन नहीं किया। सामाजिक रूढियोंको तोड़कर थोड़ेसे शिष्ट कुटुंब कुछ हदतक अेक दूसरेमे हिलमिल गये सही, लेकिन अुतना काफ़ी नही है। आज भी यह नही कहा जा सकता कि सब वर्ग अेक दूसरेमे हिलमिल सके है; लेकिन अुस विषयक

जबर्दस्त प्रेरणा लोगोंको मिल चुकी है और अुसका ओघ अब रुकने-वाला नहीं है।

अिस तरह मै जिस आदर्शभेदकी बात करता हूं वह साहित्यकी दृष्टिसे नही बल्कि जीवनकी दृष्टिसे है। और अुसमे भी मै पुरानोंका अैब तो नही निकालता। जिनके कंधोपर चढ़नेसे मै दूर तक देख सकता हूं अुन्हींको अदूरदृष्टि कहनेकी भूल और धृष्टता मैं न करूंगा। लेकिन अिस बातसे, कि आदर्श के अूँचा होनेसे दृष्टि दूर तक पहुँचेगी ही, कैसे अिन्कार किया जा सकता है?

अेक बात मुझे खटकती आयी है। हम अंग्रेजी पढे हुअे लोग अंग्रेजी साहित्यका अुत्कृष्ट अंश आत्मसात् कर अुसे शुद्ध, अच्छी तथा आजकी जनता समझ सके अैसी भाषामें और रूपमे अगर ला सके होते तो अुससे अधिक अच्छा और क्या हो सकता था? जनतासे पोषण पाकर हमने अंग्रेजी पढ़ी; अुसका लाभ जनताको देना हमारा कर्तव्य था। जो बात अंग्रेज़ी के बारेमे मैं कहता हूं वही संस्कृतके सम्बन्धमे भी मुझे कहनी है। हम संस्कृत और अंग्रेज़ी सीख तो गये; दोनोंकी विचार-प्रणाली तथा भाषाशैलीका अच्छी तरह मिलाप कर हमने गुजरातकी सेवा भी की; लेकिन हम जनताके साथ पूरी तरह ओतप्रोत न हुअे। अिसलिये हम पाठकवर्ग तैयार न कर सके। लोग पुरानी पंडिताअू शैली झेल न सके। यह दोष लोगोंका नहीं है। हमने जितनी साहित्यसेवा की अुससे ज्यादा अगर जनसेवा की होती तो जनताकी मनोभूमिका के साथ हम समरस होते और वह हमारा कहना समझ जाती। हमने कमसे कम अिस ढंगका यह ज्ञातिभेद तोड़ डालनेकी कोशिश की होती तो भी हम कबके लोकसम्राट् हुअे होते। लेकिन हमने तो लोगोंसे कहा, "तुम भी हमारी तरह अंग्रेजी सीखो, संस्कृत सीखो, और साहित्यका आस्वाद लेनेके अधिकारी

बनो।" अिस जवाबमे कठोरता और गैरज़िम्मेदारी है; लेकिन अुस वक्त हम यह न समझ सके।

आज भी देशसेवक साहित्यके द्वारा जितनी जनसेवा करते है अुतनी सेवा केवल साहित्यसेवक नहीं करते। साहित्यको तो हमेशा जीवनका एक अंग समझना चाहिये। जीवनशुद्धि और जीवनसमृद्धि जिस दिन साध्य समझी जायेगी और साहित्य को अनेक साधनो मेसे अेक पवित्र साधन माना जायगा तभी समाज तथा चारित्र्य दोनोंकी अुत्तम सेवा होगी।

यह सब तो आप जानते ही है और अिसको स्वीकार भी करते हैं। मै तो सिर्फ़ अपना मन्तव्य स्पष्ट करनेके लिये अितना लिख गया। विस्तारके लिये क्षमा करें।

थोड़े दिनोंमें फिर जेल जानेवाला हूँ। हो सके तो बंबअीमें आपके दर्शनोके लिये आ जाअूँगा।

सेवक
काका कालेलकरके
वन्दे मातरम्।

  

: : : पत्रकारकी दीक्षा

अिस परिषद्के सामने कोअी निबंध पेश करनेका अधिकार मुझे है या नहीं अिसका मैं विचार कर रहा था। अैसा लगता है कि अधिकार है भी, और नही भी। कअी साल गुज़रे, देश-विदेशके अख़बार मै दिलचस्पी के साथ पढ़ता था। पत्रकारके कार्य और कर्तव्य के विषयमे मै सोचता आया हूँ। वंगभंगके बादके राष्ट्रीय

आन्दोलनमें पहले अेक स्थानीय पत्रके साथ और बादमें अेक दैनिक पत्रके साथ मैंने अत्यंत निकटका संबंध र । था। अुस वक्त की जनजागृति और आत्मशुद्धिके आन्दोलनमें भी 'नवजीवन' जैसे पत्रके साथ मेरा अुतना ही निकटका सम्बन्ध हो गया। और अगर अैसा कहूँ कि अिन दो आन्दोलनोंके बीचके लम्बे अरसेमें विचार और कलमका ब्रह्मचर्य-पालन भी मैंने किया था, तो अुसमे अतिशयोक्ति न होगी। अिस तरह कहा जा सकता है कि पत्रकार-परिषद्‌के समक्ष अपने विचार रखने जितना अधिकार मैंने प्राप्त किया है। लेकिन यह भी सही है कि आजकल पत्रकारके व्यवसायका जो आदर्श बन रहा है अुसको दृष्टि के सामने रखते हुए अिस धंधेके लिये आवश्यक योग्यता अपनेमें लानेकी अिच्छा किसी दिन मेरे मनमें न आयी। मुझे पहलेसे ही अैसा लगता आया है कि पत्रकारकी अपेक्षा शिक्षाशास्त्रीका कार्य अधिक अुपयोगी है। अिसलिये पत्रकारके लिये आवश्यक योग्यता मुझमें आयी ही नहीं। पत्रकारके लिये आवश्यक अेक गुण ही यह मुझे निबंध लिखनेकी प्रेरणा देता है। पत्रकार प्रधानतया विचार-प्रचारक होता है। विचारका प्रचार करनेकी, विचार 'ब्रॉडकॉस्ट' करनेकी वृत्ति कहिये या खाज कहिये-पत्रकारमें जितनी होती है अुतनी शायद ही किसी दूसरे में होगी। धर्मोपदेशक और अध्यापक मे भी यह वृत्ति न्यूनाधिक मात्रामे ज़रूर होती है।

वास्तवमे देखा जाय तो धर्मोपदेशक, पत्रकार और शिक्षाशास्त्री तीनोंका कार्य लगभग अेकसा ही है। सोयी हुअी जनता जब जागना चाहती है अुस वक्त तो पत्रकारके पदको असाधारण महत्व और अुत्तरदायित्व प्राप्त होता है। पत्रकार यानी लोकशिक्षाका आचार्य, ब्राह्मणोंका ब्राह्मण और चारणोंका चारण है। जनता जब युयुत्सु हो जाती है तब कअी बार पत्रकारको सैनिक और सेनापति भी बनना पड़ता है और अच्छी तरह क्षात्रधर्मकी भी तालीम लेनी पड़ती है।

जहाँ जहाँ अन्याय होता हो, जहाँ जहाँ दीन-दुर्बल और मूक वर्गोंपर जुल्मो सितम ढ़लता हो वहाँ वहाँ 'क्षतात्किल त्रायते' के अपने बिरुदका स्मरण कर पत्रकार कूद पड़ता है। जब अैसे अवसर नहीं होते तब विचार, जानकारी, संस्कार, अभिरुचि और आदर्शोंकी प्याअू चलाकर वह समाजसेवक बन जाता है । अज्ञान या अदूरदृष्टि के कारण लोग जहाँ लड़ते होंगे वहाँ 'ज्ञानांजनशलाकया' लोगोंकी दृष्टिको शुद्ध करनेकी वह कोशिश करता है । समाजचक्रके पहिये अपना जब अेकराग भूलकर चीत्कार करने लगते हैं तब अुचित स्थानपर स्नेह डालकर वह अुस घर्षण को दूर करता है, और जब जब सरकार–दरबारके मौके आते है तब तब वह जनताका प्रतिनिधि बनकर लोकमतको अेकधारा बनाकर लोक-शक्तिको सचेत करता है। अिस तरह लोकसेवक, लोकप्रतिनिधि, लोकनायक और लोकगुरुकी चतुर्विध अुपाधि पत्रकार प्राप्त कर सकता है।

आजकलके वैश्ययुगमे पत्रकारका अेक और ही आदर्श बन रहा है और वह शिष्टसम्मत भी हो रहा है। 'हमारे सामने धर्मकी बाते मत किया करो, हम सिर्फ़ व्यवहार जानते है; आदर्शोंके तारस्वरमें गानेको लोगोंसे मत कहो, मध्यम या मन्द्र स्वरमे जो कुछ गवाना हो वही गानेको कहो; हमसे साधु या वीर बननेकी अपेक्षा मत रखो बल्कि हमे अैसी ही बातें सुझाओ जो नफा और नुकसानका हिसाब करनेवाले कुटुंबीको पसन्द आये या मुआफिक आये। दुनिया हमारी है। वीर और साधु समाजके लिये शोभारूप तो है, लेकिन वह पगड़ी नही बल्कि अुसकी किनारीपर की हुआी पच्चीकारीकी तरह है।' अिस आदर्शका स्वीकार करनेवाले लोग कहते है, 'पत्रकारको अपने आदर्शका मान व्यर्थही अूँचा नही रखना चाहिये। लोग जो कुछ चाहते हैं अुसे मुहैय्या करना ही पत्रकारका आदर्श होना चाहिये।

लोगोंके हम कोअी विद्यागुरु तो है नहीं कि अुन्हें मारपीट कर पढ़ायें। हम तो लोगोंके खिदमतगार है। ग्राहकोंको जिस मालकी ज़रूरत होगी वह देकर अुन्हें खुश रखना ही दूकानदारका आदर्श है। गायकका आदर्श तो यही है कि राजा जो राग चाहे वह गाकर अुसका रंजन करे। लोग हमारे शिष्य नहीं, सेठ हैं। जो सेठको सिखावन देने जाय वह नौकर कैसा? ग्राहकको जो धर्मशास्त्र या संयम सिखाने लगे वह दूकानदार कैसा?'

यहाँतक आगये तो फिर अैसी दूकानदारीका ही ज्ञान आगे चलता है। दूकानदार अिस बातका खयाल हमेशा नहीं करता कि ग्राहकको कौनसा माल चाहिये। बल्कि वह तो अिसी बातका ध्यान रखता है कि अपने पास पड़ा हुआ माल ग्राहकको कैसे आवश्यक मालूम हो। वह अपने ग्राहकको सेठ मानने के बजाय शिकार मानता है और दुनियाको नीचे खींचता है। अुत्तर भारतमें आज क्या चल रहा है? कअी पत्रकार खालिस कज़िया-दलाल बने है। अुन्होंने निंदाके शराबखाने खोले है, राष्ट्रीय आपत्ति तथा साम्प्रदायिक गलतफ़हमियोंकी पूँजीपर वह तिजारत करना चाहते है। लोककथामें जिस तरह गाँवका बकवादी अेक प्रधान पात्र होता है अुसी तरह यह पत्रकार समाजके महापिशुन बनकर विचरते है। शेक्सपियरके आयागोने ऑथेल्लो और डेस्डिमोनाकी जो हालत कर डाली थी वही हालत यह लोग अिस भोले राष्ट्रकी करनेको तैयार हो गये है। फ़र्क अितनाही है कि आयागो अपने धंधे का स्वरूप और परिणाम भली भाँति जानता था और जानबूझकर बदमाशी करता था। अिन सबकी स्थिति वैसी नही है। यह अभागे भाअी स्वयं ही विकारमत्त हुअे है और यादवी (आपसी लड़ाअी) के यादवों का अनुकरण कर रहे हैं।

पत्रकारकी वृत्ति अैसी खाजवाली नहीं होनी चाहिये कि जो कुछ मालूम हुआ, जाहिर कर दिया। अच्छे खानदानके मनुष्यके पेटमे कअी चीजें

रहती हैं। लेकिन कुछ बातोमे वह होंठ तक नही हिलाता। पत्रकारको कार्यानन्द खोजना चाहिये, न कि वादानन्द। वरना कलमकी पटावाजी अेक वार शुरू हो गयी तो फिर सारी दुनियाका संहार हो जायगा। विलायतमे तो जब आन्दोलनों और चर्चा-विषयोंका अकाल पड़ जाता है तब पत्रकार अेक-दूसरेके खिलाफ़ अभद्र टीका कर अेकदूसरेपर जीवित रहते है। "भिक्षुको भिक्षुकं दृष्ट्वा श्वानवत् गुर्गुरायते!"

सौभाग्यसे गुजरातमें अख़बारवाले सज्जनताकी मर्यादा शायद ही लॉघ जाते है। गुजरातके पत्रकार सौम्य है, झगडालू नहीं है। अैसा भी कहा जा सकता है कि वे झगडोसे कुछ भागते-से हैं। अिसलिये समाज अेक बुराअीसे वच गया है। लेकिन यह कहना मुश्किल है कि यह वादविमुखता गुणरूप ही है। सामाजिक जिम्मेदारीको न भुलनेवाली प्रखर समालोचनाके अभाव मे राष्ट्रीय आन्दोलनमे तथा साहित्योद्यानमे कँटीले और बेकार झाड़झंखड़ बेहद बढने लगते है। प्रत्येक सुन्दर आदर्शकी कमजोर नकलें समाजमे फैलती है। जिस तरह रविवर्माके चित्र दियासलाअीकी डिबियों पर भी छपते है अुस तरह हीन और हीनतर नकले फैलने लगती है और असली चीज़का गला घोंटती है। 'तू मुझे कालिदास कह, मै तुझे भवभूति कहूँगा'-अिस तरह 'अहो रूपम् अहो ध्वनि:' चलता है और समाजमे आदर्श चढ़ने ही नहीं पाते। जहाँ देखो वहॉ अल्प सन्तोष। अिसके कारण विचारशुद्धि, भाषाशुद्धि, कार्यशुद्धि तो दूर रही, लेखनशुद्धि भी नहीं रखी जाती। मतभेदके कारण आनेवाली विविधता अधिक नहीं होती और वह वाधक भी नहीं होती। आज तो सर्वत्र अनवस्था है।

मुझे अैसा लगता है कि आलोचना करनेका मै अधिकारी नहीं हू। अिस लिये अिस वातको यहीं छोड़ देता हूँ और कुछ अैसी ही सूचनाअे पेश करता हूं जो पत्रका संचालन करनेमे कामकी सावित हों।

— २ —

अखबार प्रधानतया वृत्तपत्र होता है। जनताके लाभका विचार करके सारी दुनियाकी खबरें देना पत्रकारका प्रथम कर्तव्य है। लेकिन अिस बारेमें—और अत्यंत महत्त्वके बारेमें—हमे औरों की आँखोंसे देखना पडता है। आंकडे जिस तरह सरकारसे ही मिल सकते हैं अुस तरह जानकारी तो 'रॉयटर' या 'अेसोसिअेटेड प्रेस' से ही मिल सकती है। वह अपनी ही दृष्टिसे महत्त्व की खबरे हमे दे देते है और धीरे धीरे किस वस्तुको कितना महत्त्व देना, किस सवालको किस दृष्टिसे रुजू करना आदि विषयोंमें अपनी दृष्टि हमारे अूपर लादते है। शिक्षा और साहित्यकी तरह वृत्तविवेचन (journalism*) मे भी हम गैरोंके अनुयायी हो गये हैं। अुसके कारण आयी हुअी पर-प्रत्यय-नेय-बुद्धि (स्लेव मेन्टैलिटी) अभी नहीं गयी है। आज हमारे यहाँ अनेक पक्ष बन गये है और विचार-प्रगति नहीं हो रही है। अिसमें अिस परप्रत्ययके अवलंबनका कम हाथ नहीं है। और आश्चर्य यह है कि स्लेव मेन्टैलिटीके खिलाफ़ आवाज सभी बुलन्द करते है। वृत्तविवेचनका मूल आधार विश्वस्त खबरें है। अुसका तंत्र हमने बनाया ही नहीं है। बुनियादमें ही परावलंबन!

---

*journalism के लिये हमारे यहां अभी कोअी अेक शब्द रूढ़ नही हुआ है, यह आश्चर्य की बात है। अिसके लिये अैसा शब्द चाहिये जिसमें दैनिक पत्रोंसे लेकर मासिक, त्रैमासिक, वार्षिक पत्रिकाओं तक के सभी अखबार और अुनमें आनेवाली छोटी छोटी खबरोंसे लेकर गंभीर चर्चा तक सब कुछ समा सके। अपने यहां 'जनता-जीवनकी घटना' के अर्थमें 'लोकवृत्त' अेक पुराना और विपुलार्थवाही शब्द है। अिसमें जनताजीवनके सभी अंग आ जाते हैं। अिसपरसे जर्नालिज़म् को 'लोकवृत्तविवेचन' या संक्षेपमें 'वृत्तविवेचन' कह सकते हैं। जहां जहां 'जर्नालिज़म्' शब्दका प्रयोग होता है वहां वहां यह शब्द ठीक बैठता है।—ले०

जब मैने अंग्रेजी पढ़ना शुरू किया तब चार आनेमें 'टाअिम्स आफ अिंडिया' मिलता था जिसे पढ़नेकी मै कोशिश करता था। हिन्दुस्तानकी सभी खबरें पढ़ जानेके बाद मुझे अैसा लगता कि क्या हिंदुस्तानमे सिर्फ़ अंग्रेज ही रहते होंगे? क्योंकि सरकारी अधिकारियों और गोरोंके सार्वजनिक और सामाजिक जीवनकी खबरें ही अुसमें ज्यादातर आती थी। मारपीट और हादिसों के जिक्र आते तभी मालूम पड़ता कि गोरी तहके नीचे नेटिव लोगोंका काला समुद्र भी है। अिसमे आश्चर्यजनक या अनुचित जैसा कुछ भी नही कि अंग्रेजी अखबार वही बाते देंगे जो गोरोंकी दृष्टिसे महत्त्वकी हों। अगर हम अपना जीवन विकासित करना चाहते हो तो हमे अपनी निजी दृष्टिसे जानकारी देनी चाहिये। मालूम होता है कि बंगाली लोगोंने यह कला कुछ कुछ सीख ली है।

अपने वृत्तविवेचनमें हम अंग्रेजी पढ़ी हुअी दुनियाका ही ख़याल रखते है। सरकार और अुसकी करतूते, विदेशके साथका व्यापार, अंग्रेजी शिक्षा, अदालते, विद्वानोंका साहित्य और पढ़े-लिखे वर्गके सुख-दुख यही हमारे वृत्तविवेचनके प्रमुख विषय होते है। हिन्दुस्तानकी जनता, हिन्दुस्तानकी कलाअे और कारीगर, किसानोका जीवन, गाँवोंकी स्थिति, धर्मप्रचार, गरीबोंका गृहजीवन, परिगणित जातियोंकी अड़चने, आदि राष्ट्रीय जीवनके प्रधान प्रश्नोको आवश्यक प्रधानता हम देते ही नहीं। स्थानीय वृत्तपत्रका अेक भी अच्छा नमूना हमारे सामने नहीं है। हमारे संवाददाता देहातोंमें जाते ही नही। वास्तवमें हालत तो अैसी होनी चाहिये कि प्रत्येक वृत्तपत्र गाँवोंके निवासियोंमेसे समभाववाले कुछ संवाददाता खोजे, अुन्हें अुस कलाकी धीरजके साथ शिक्षा दे और ग्रामीण जीवनकी चर्चामें दिलचस्पी ले। जिस तरह हमारी सभाओंमें शहरवासी अुच्चासनपर बैठते है और बेचारे ग्रामप्रतिनिधि अपनी स्वाभाविक विनय धारण

कर दूर कोनेमे किसी जगह बैठ जाते है, अुस तरह अखबारोंमें भी लोकजीवनको अेकाध कोना ही मिल जाता है और वह भी हमेशा नहीं मिलता। यह सही है कि जब ग्रामवासी आत्म-निंदा छोड़कर अपनेमें स्वाभिमान और आत्म-प्रत्ययका विकास करेंगे तभी यह हालत सुधरनेवाली है। लेकिन फिर भी अिस दिशामें अखबार प्रारंभ और मदद जरूर कर सकते है। रेल्वे कंपनी तीसरे दर्जेकी अुपेक्षा भलेही करती हो, लेकिन पत्रकार तो ग्रामजीवनकी, जहाँ कि अुनके चालीस फीसदी ग्राहक रहते हैं, अुपेक्षा बिलकुल नहीं कर सकते। प्रतिष्ठित और जिम्मेदार अखबार अिस दिशामे लापरवाही बरतेंगे तो अुनकी खैरियत भी नहीं है। यह देखकर, कि जनतामे अस्मिता आती जा रही है, कुछ त्वरितदृष्टि पत्रकार अपढ वर्गोंकी खुशामद कर अुन्हे चाहे जिस रास्तेसे ले जाकर पनी प्रतिष्ठा जमायेंगे, और सच्ची प्रजाकीय शक्तिके ये गैर-जिम्मेदार सरदार देशमे कौनसा अुत्पात न मचा सकेंगे? नतीजा यह होगा कि प्रतिष्ठित नेताओंको आखिर अैसे लोगोको भी प्रतिष्ठा की मंजूरी देनी पड़ेगी और अुनके साथ किसी तरह का समझौता करना पड़ेगा। अज्ञानी जनता अगर गैर-जिम्मेदार लोगोंके नेतृत्वमें फंस जाय तो सरकारको हमारे आन्दोलनको तोड डालनेके लिये वह अेक रामबाण अस्त्र मिलेगा। अंग्रेज सरकारको लोकमतसे परिचित करानेमें और विलायतकी जनताम हिन्दुस्तानकी हालतके बारेमें लोकमत तैयार करने में हमने जो अेक अरसा गँवाया अुतना ही अगर हिन्दुस्तानकी ग्रामनिवासी जनताको तैयार करनेमें लगाया होता तो आज हम स्वराज्यमें पुराने हो गये होते। सच्चे कामका प्रारंभ कष्टदायक और आहिस्ता भले ही हो, शुरू शुरूकी मन्दता भलेही असह्य हो, लेकिन कुल मिलाकर सच्चे काम के फल ही पहले पकते है। अब भी 'जब तू जागे तभी सवेरा' समझकर किसानों, जुलाहों, कारीगरों, मज़दूरों, स्त्रियों और क्लर्कोंकी स्थितिका

महत्व समझकर अुनकी दुर्दशा दूर करने के लिये, अुन्हे तैयार करने की दृष्टिसे अुनके सवालोकी तरफ़ ध्यान देनेका व्रत पत्रकारोंको लेना चाहिये। अबतक समाजसुधार और धर्मसंस्करण जैसे महत्वके विषयोंका विवेचन भी हमने मध्यम श्रेणीकी दृष्टिसे ही किया है। यह दुःख की बात है।

जैसे जैसे पत्रकार ग्रामीण जीवनके विषयमे अधिकाधिक लिखते जायेंगे वैसे वैसे प्रचारकों, अुपदेशकों, नेताओ और कूटनीतिज्ञोंके लिये गाँवोंकी मुलाक़ात लेना लाज़िमी होगा। लेकिन वैसा होने के लिये पत्रकारोंके लेख स्थानीय रगसे रंगे हुअे होने चाहिये। अुनमे स्थानीय अध्ययन और स्थानीय समभाव पूरी तरह होने चाहिये। 'सम्पादककी नज़रसे' लिखे हुअे गोलमोल सामान्य सिद्धान्तोंसे काम न चलेगा।

अच्छी तैयारीके साथ अगर अिस दिशामे प्रयत्न होने लगे तो यह व्यवहार घाटेका नहीं साबित हो सकता। अैसे लेख लिखकर, कि जिन्हें पढकर लोगोको मज़ा आये और शिक्षाशून्य मनरंजन हो, कुछ पत्रकारोंने पाठकवर्गकी अभिरुचि विगाड़ दी है। वरना अैसे वृत्त-विवेचनको, जिसमे जनताके हितकी चर्चा की गयी है, आवश्यक पारिश्रमिक दिये बिना जनता न रहेगी। और अखबार जेब भरनेका धंधा तो हरगिज़ नही बनना चाहिये। अिन्साफ़ की खातिर, धर्मकी ख़ातिर, लोककल्याणकी खातिर, लोकमतके खिलाफ़ जाना भी पत्रकारके लिये अुचित होता है। ग़ैरोंके जुल्मका वर्णन और अुसका निषेध लोकप्रिय हो सकता है, लेकिन अगर हम सामाजिक अन्यायों और कुरीतियो के खिलाफ़ खड़े हो जायँ तो लोग चिढ़ भी जाते हैं। खुशामदके आदी पाठक और लेखक अैसा वीरकर्म क्यों करने चले? किसी महान् अन्यायके खिलाफ़ अभिमन्यु जैसा कोअी वीर अेकाकी असहाय लड़ता हो तो पत्रकारको अुसकी बग़लमें खड़ा रहना ही चाहिये। प्रतिष्ठाकी ज्ञाति बहुत बार सुयोग्य किन्तु प्रतिष्ठारहित

मनुष्यको दबाकर रखनेकी खूब कोशिश करती है। पत्रकार अगर हिम्मतवान होगा तो वह प्रतिष्ठाकी जातिको तोड़कर भी योग्यताका पुरस्कार करेगा।

जो बात व्यक्तिकी वही संस्थाओंकी। देशमें काम करनेवाली संस्थाओंके स्वरूपकी जानकारी प्राप्त करके अुसका परिचय लोगोंको करना और संस्थाअें सुस्त न बनें अिसलिये अुनपर पहरा देते रहना पत्रकारका खास कर्तव्य है। देशमें जितना प्रत्यक्ष सार्वजनिक कार्य होता है अुसमें सहायक होना अिसीमें वृत्तविवेचनके सभी फ़र्ज समा जाते हैं। वृत्तविवेचन अगर यह फ़र्ज़ अच्छी तरह अदा करे तो अुसकी शक्ति अितनी बढ़ जाती है कि जिस तरह सरकारें और विद्यापीठ योग्यता के लिये अुपाधियाँ देते हैं अुस तरह अखबार भी कर सकते हैं। फिर अैसी लोकमान्यताके आगे राजमान्यता तुच्छ हो जाती है।

कोअी भी विशाल और नया सवाल हाथमें लेना हो तो पहले मासिकपत्रिकाअें अुसका विवेचन करें और बादमें साप्ताहिक पत्रिकाअें अुसे हाथमें ले लें। अैसा करनेसे विषय टेढ़े रास्ते नहीं जाता और काम भी नहीं बिगड़ता। दैनिक पत्रोंके लिये अितनी मर्यादा आवश्यक है कि जो आन्दोलन चल रहा होगा अुसके बारेमें ही वे लिखें।

हमारे यहाँ दैनिक वृत्तपत्रोंका संपादकमंडल विशाल नहीं हुआ करता। बहुतबार राजा, प्रधान, सेनापति सभी अेक ही होते हैं। रोज़ अुठकर लेख पर लेख जो जनने ही पड़ते हैं। अैसी हालतमें अगर समाजको कच्चा खाना परोसा गया तो आन्दोलनमें जरूर अैब निकलेगा। हमारे यहाँ विद्याव्यासंगी लोगोंने नियमित रूपसे अखबारोंकी मदद करनेका रिवाज अभी तक ठीक ढंगसे प्रचलित नहीं किया है। जब अेक अख़बारके पीछे भिन्न भिन्न क्षेत्रोंमें विशेष योग्यता रखनेवाले लोगोंका अेक बड़ा मंडल होगा और अुसकी निरपेक्ष सेवा सतत मिलती रहेगी तभी रा वृत्तविवेचन

पुख्ता और समृद्ध होगा। जिस तरह भगिनी निवेदिता और दीनबन्धु अेंड्रयूज़ अनेक अखबारोंके मददगार थे अुस तरह हमारे ऐसे कअी विद्वानोंके नाम लिये जा सकते है जो अैसी मदद कर सकते हैं। वैसे लेखोद्वारा कुछ लोग मदद करते होंगे, लेकिन सुझाव रखने जितना रस तो बहुत ही कम लोग लेते है।

अिस आक्षेपके खिलाफ़ लेखक अैसी दलील पेश कर सकते हैं कि पत्रकारोंमें विद्वान् बुजुर्गोंके वचनको मान देनेकी वृत्ति है ही कहाँ कि अुन्हे हम सलाह दे दे? असलमें देखा जाय तो सलाहकार या परामर्शदाता आग्रही सास बन जाय तो अुससे काम न चलेगा, और यह भी बर्दास्त नहीं किया जा सकता कि पत्रकार पंडितं-मन्य बने। हमारा सामाजिक जीवन खराब हो गया है और वही हालत हमारे सार्वजनिक जीवनकी भी हुअी है। संघशक्तिसे काम करनेके नियम अभी हमारे गले नही अुतरे है। नीतिके बन्धन शिथिल करनेमें, अभिरुचिके अुच्च आदर्शोंको गिरानेमें और हर प्रकारके स्वच्छंद या स्वैराचारको रूढ़ करनेमें अब तक अखबारोंने कोअी कसर नहीं रखी है। जहाँ देखिये नये अखबार शुरू होते है, थोड़ासा जीवनकलह चलाते है, और ग्रेज्युअेटों (स्नातकों) के विद्याव्यासंग की तरह थोड़े ही दिनोंमे डूब जाते हैं। फिर सारा अुत्साह पक्षापक्षी या गुटबंदियों में ही रह जाता है। स्वतंत्र मौलिक कल्पनाओंका अकाल होनेपर भी प्रतिभाका दावा करनेवाला आडंबरी साहित्य अितना कुछ बढ़ गया है कि अब साहित्य-संरक्षक-मंडल की स्थापना करनेका समय आ पहुँचा है।

२

पत्रकार दो प्रकारके होते हैं। कुछ तो वह हैं जो अपने पत्र द्वारा जितनी वाङ्मयीन सेवा होती है अुतनेसे सन्तोष मानकर बैठ जाते

है। मतीलाल घोष, रामानन्द चट्टोपाध्याय और नटराजन अि वर्गके नमूने समझे जा सकते हैं। दूसरे वह है जो अमली देशकार्य करते समय अपने विचारोंको प्रकट करनेके साधन के तौरपर अख़बार चलाते हैं। गांधीजी, देशबन्धु, लाला लाजपतराय, लोकमान्य तिलक आदि अिस वर्गके प्रतिनिधि हैं। प्रथम वर्गके पत्रकार विविधताके अुपासक होते हैं। प्रत्येकका कुछ न कुछ प्रमुख विषय होने पर भी वह सर्वांगी विचार प्रचारके हिमायती हुआ करते है। दूसरे वर्गके लोग कार्य परायण होनेसे जहाँ तक हो सके अेकाग्रता लाना चाहते हैं। दोनोंका अुपयोग तो है, लेकिन अिन दो आदर्शोंकी मिलावट करना उचित नहीं है। प्रथम वर्गके पत्रकार अगर चाहें तो अपने अख़बारको संस्कृतिका केन्द्र बनाकर अेक सम्प्रदाय या बन्धुसमाज तैयार कर सकते है। पुराने जमानेमें जो काम मन्दिर करते थे अुसी काम तक पत्रकार अपने पत्रको चढ़ा सकता है। दूसरे वर्गके पत्रकार देशसेवकोंकी अडिग सेना तैयार कर सकते हैं।

पत्रकारोंका तीसरा अेक वर्ग है—तनख्वाहके खातिर चाहे जिस मतका प्रचार करनेवालोंका। अमेरिकन नीग्रोंके अेक स्कूलमें अेक शिक्षकको नौकरीपर रखते समय विद्यार्थियोंके मांबापोंने अुससे पूछा था, 'क्या तुम पृथ्वी गोल है अैसा सिखाओगे, या चौकोर है अैसा?' अुसने जवाब दिया, 'अिसमें या दूसरी किसी भी बातमें मेरा निजी तनिक भी आग्रह नहीं है, आपकी टाअुन कौन्सिल बहुमतसे जो कुछ निश्चित करेगी सो पढ़ानेके लिये मै तैयार हूं।' अैसे लोगोंके हाथों क्या समाजसेवा होती होगी सो अेक मात्र ब्रह्माजी ही जानें!

पत्रकारके अलावा अेक नया वर्ग समाजमें पैदा होनेकी जरूरत है। अपने अपने विषयमें या क्षेत्रमें जो जो प्रवृत्ति चल रही हो, जो साहित्य प्रगट हुआ हो, नये नये आविष्कार हुअे हों, निर्णय किये गये हों, वाद पैदा हुअे हों, नये नये नमूनोंका जन्म हुआ हो, अुन सबका

वार्षिक संग्रह (अब्द कोष) करनेका काम किसीको अपने सिरपर लेना चाहिये। सामाजिक जीवनके कओ अुपांग जरूर अैसे है जिनके लिये साप्ताहिक तो क्या, स्वतंत्र मासिक-पत्रिका भी नहीं चलायी जा सकती, मगर फिर भी जिनकी जानकारी मामूली अखबारोंमें यदृच्छया आ जाय और बिखरी हुअी पड़ी रहे यह नहीं हो सकता। यदि कोअी 'वार्षिक' चलाता हो तो कुछ लोग अपने विषयकी सामग्री अुसके पास अवश्य भेज दे।

साहित्यचर्चा करनेवाली नहीं, किन्तु नये-पुराने सभी प्रकारके ग्रंथोका संक्षिप्त परिचय करानेवाली अेकाध मासिक-पत्रिकाके लिये हमारी भाषामें अवश्य स्थान है। अिस तरहकी मासिक-पत्रिका विद्यार्थियों और आम लोगोंके लिये बहुत ही कीमती साबित होगी और साहित्यका अितिहास लिखनेमें तो अुसकी सेवाका मूल्य आँकना मुश्किल ही है। यह तो बहुत लोग जानते है कि मेज़िनीकी साहित्यसेवा अैसे प्रयत्नसे ही शुरू हुअी थी। अैसा कुछ नहीं है कि अैसी पत्रिकाओमें सिर्फ अपनी भाषाके साहित्यकाही परिचय आये। हिन्दुस्तानके दूसरे साहित्यों को भी अुचित मात्रामें स्थान दिया जा सकता है।

सामान्य पाठक अगर अखबार और मासिक-पत्रिकाओंके बाहर जाते हैं तो वह अुपन्यासोंमें अुतरनेके लिये ही। अिस तरहकी हालत जब तक अपने देशमें है तबतक सारी दुनियाकी जानकारी अुसके पूर्वापार सम्बन्धके साथ देनेका प्रबन्ध लोकशिक्षा की दृष्टिसे अत्यंत आवश्यक है। दुनिया कहाँ कहाँ फैली हुअी है, वहाँ क्या क्या चलता है, प्रत्येक देशका दुखदर्द क्या है और दुनिया कहाँ तक आ पहुँची है अिसका खयाल हमारे लोगोंको होना ही चाहिये। अिसमें भी हम बड़ी हदतक परावलंबी रहेंगे ही। यह अपरिहार्य है। फिर भी अपनी दृष्टिसे प्रत्येक

वस्तुकी मात्रा और महत्त्व निश्चित कर लोकशिक्षाका काम शुरू तो करना ही चाहिये।

चालीस करोड़ गुलामोंके अिस राष्ट्रमें हमारा वृत्तविवेचन ज्यादातर अंग्रेजीमें ही चलता है। समर्थ लेखक अंग्रेजीकी ओर ही दौड़ते है। और जिनके लिये यह सारा प्रचार चल रहा है अुस जनताको अिसके फलसे वंचित रहना पड़ता है, यह कितनी शर्म की बात है! अिस शर्मकी तरफ हमारा ध्यान नहीं जाता। अगर ध्यान खींचा भी जाता है तो सच्ची बात गले नही अुतरती अिससे अधिक दयनीय स्थिति और क्या हो सकती है?

देशी भाषाओंमें जो अख़बार चलते है अुनके पीछे तैयारियां बहुत ही कम होती है। कहा जा सकता है कि पत्रकारोंके लिये अत्यंत आवश्यक जानकारी, समझमें आये अैसे रूपमें जिनमें दी हो अैसी किताबे हमारी भाषामे है ही नहीं। 'अिंडियन अियर बुक' 'अैन्युअल रजिस्टर' 'हू अिज हू' 'पिअर्स साअिक्लोपीडिया' 'कमर्शियल अैटलास' 'हैंडबुक आफ कमर्शियल अिन्फर्मेशन' आदि सर्वोपयोगी सादी किताबें भी देशी भाषाओंमें अभी तक तैयार नहीं हुई है। अिसलिये तथा अुचित अध्ययनके अभावमें देशी पत्रिकाअें अंग्रेज़ी पत्रिकाओंकी केवल स्याहीचूस बन गयी है।

अितनी प्राथमिक तैयारी भी जहाँ नहीं है वहाँ अमुक विषयपर या अमुक घटनापर विश्वस्त ज़ानकारी प्राप्त करनेके लिये खास संवाददाता भेजनेकी, या अख़बारकी तरफ़से जाँच-समिति नियुक्त करनेकी बात तो दूर ही रही।

वृत्तविवेचनपर जीनेवाला और वृत्तविवेचनको पोषण देनेका ढोंग करनेवाला अेक भयंकर रोग है 'विज्ञापन'। सार्वजनिक नीतिको भ्रष्ट करनेवाली और कौटुंबिक अर्थशास्त्रको तोड़ डालनेवाली यह

बुराअी अितनी फैल गयी है कि 'नवजीवन' द्वारा गांधीजीने अुसका जो अितना सख्त और सक्रिय विरोध किया है अुसका कुछ भी असर दूसरे अखबारोंपर पड़ा हुआ दिखाअी नहीं देता। जब मै अख़बारोंमें अितने हीन विज्ञापन देखता हूँ तब मनमें विचार आता है, क्या प्रभु-सेवाके लिये कोअी अुत्तम देवमन्दिर बनाकर बादमें अुसका खर्च चलानेके लिये अुसके अहातेके कमरे शराबखानों और वेश्याओंको किरायेपर देने जैसा ही यह काम नहीं है?

पत्रकारका व्यवसाय या वृत्तविवेचन अपने यहॉ यूरपसे आया है। जिस तरह बच्चे अपना चारित्र्य और आदर्श बनने तक माँबाप या गुरुका अनुकरण करते है अुस तरह हमने अब तक विलायती 'जर्नालिज्म' का अनुकरण किया। अमेरिकन ढंग दाखिल करनेकी भी कोशिश शुरू हो गयी है। क्या अभितक अनुकरणका ज़माना पूरा नहीं हुआ? क्या स्वतंत्र व्यक्तित्व लाने जैसा हमारे राष्ट्रमें कुछ है ही नही? अगर हमारे पास सांस्कारिक व्यक्तित्व है, अगर हममें अस्मिता जागृत हुअी है, तो अुसे पहचाननेका, अुसे विकसित करनेका और प्रकट करनेका समय क्या अब नहीं आया है? हमारा सवाल सिर्फ़ राजनैतिक नहीं है। अगर वह सिर्फ राजनैतिक होता तो वह कभीका सुलझ गया होता। जिस तरह दुनियाके सभी धर्म अिस देशमें अिकट्ठे हो गये है अुस तरह दुनियाके लगभग सभी सवाल अिस देशमें अिकट्ठा होने लगे हैं, हो गये है। अभी कुछ बाकी रहे होंगे तो वह भी आ जानवाले हैं। चारो तरफ़ से पानीकी बाढ़ आनेपर बेचैन और परेशान हुअे लोग जिस तरह अूंची से अूँची जगह खोजते हैं अुस तरह दुनियाके सभी सवाल, धर्म धर्म के बीचके, जाति जातिके बीचके, सामाजिक, आर्थिक, शिक्षासबंधी सभी सवाल अिस देशमे अिकट्ठे होने लगे हैं और अुनकी चर्चा करनेका कर्तव्य पत्रकारोंके सिरपर आ पड़ा है। अैसा तो है नहीं कि जो पत्रकार हुआ वह विचारक

भी हो गया, लेकिन अुसे हर सवालका स्वरूप आर गांभीर्य ठीक ठीक समझ तो लेनाही चाहिये और श्रेष्ठ विचारकोंने अुनके लिये क्या क्या अुपाय सुझाये है या प्रयुक्त किये हैं अुनका सूक्ष्मतासे अध्ययन कर फिर अुसके बाद यथाशक्ति, यथामति, अुन्हें देशके सामने पेश करना चाहिये। हमारे जीवनमें और अितिहासमें, धर्म में और समाजरचनामे अुसी दिशामें क्या क्या अुपयोगी है अिसकी जॉच-पडताल करके अुसे दुनियाके सामने रखना अुनका काम है।

यह बात आसान नही है। दीर्घ अध्ययन से मनुष्यमे विद्वत्ता आ जायगी, लेकिन शुद्ध और अुच्च जीवनके बिना दिव्य दृष्टि और अडिग श्रद्धा नही आती। आजका जमाना ही अैसा है कि जितना मुमकिन हो, चढ जानेकी आवश्यकता है। शैतान लगभग सिरपर सवार हो चुका है। अुसे परास्त करनेके लिये देवसेनाके सज्ज होने की आवश्यकता है। अैसे अिस अवसरपर पत्रकारोंके सामने आज अेक बड़ा सवाल है कि वे कौनसा काम करे ? *

  

साहित्यका अुद्गम : : :

मुझे यहाँ (हमदाबाद) आये बारह साल हो गये। फिर भी मैं अिस अुद्यमी नगरीकी सार्वजानिक प्रवृत्तिओसे प्रायः अलिप्त ही रहा हूँ। 'साहित्य अुत्तेजक समाज' के साथ मेरा परिचय वार्षिक 'वीणा' द्वारा जितना हुआ अुतनाही समझना चाहिये। स्वर्गीय भाओी रामप्रसाद जेश्वरके बारेमे थोड़ासा पढ़ा था। अुससे मनमे अनुमान हुआ था कि

* अहमदाबादकी पत्रकार-परिषदमें पठित निबंध-नवंबर १९२४

अिस समाजके मूलमें शुभ प्रेरणा है और अिसलिये अिसका विकास होना ही चाहिये। भाअी जेश्वरजीका अुद्देश्य साहित्यको अुत्तेजन देनेकी अपेक्षा लोकशिक्षाका प्रारंभ करना ही विशेष रूपसे दिखाअी देता है। अिसलिये मेरे जैसा शिक्षा-प्रेमी अिस समाजकी ओर आकर्पित हो जाय तो कोअी आश्चर्य की बात नहीं। अिसमे शक नहीं कि हर साल आप अच्छे अच्छे साहित्याचार्योंको यहॉं आमंत्रित कर सके है। लेकिन लोकशिक्षा का आदर्श भी अिस समाजमे बसता है, अिसलिये मेरे मित्र गिडवानीजी को और मुझ जैसेको बुलानेकी कृपा आप करते है।

मै कोअी साहित्यसेवी नहीं हूँ। लेकिन साहित्यके साथ मैंने असहकार भी नहीं किया है। आज तक साहित्यने शिक्षाकी बहुत मदद की है और आगे भी करता रहेगा। शिक्षाके अुपासक साहित्यकी सीधी सेवा शायद न कर सकें, लेकिन साहित्यके परिचयमे तो अुन्हे रहना ही पड़ेगा, क्यों कि दोनों परस्पर-पोपक हैं। यहाँ तक कि कुछ लोगोंको अैसा लगता है कि वह दोनों अेक ही है। या अैसी अेक धारणा रूढ हो गयी है कि दोनोंमें साध्यसाधनका सम्बन्ध है।

साहित्यकी सेवा अिस शहरके युवक तथा ग़रीब लोग प्राप्त कर सकें अिसलिये आपने जो यह प्रवृत्ति चलायी है अुसी से लोकशिक्षा के अनेक क्षेत्रोंकी जुताअी होनेवाली है। 'वीणा' अुसका अल्पमात्र मंगलाचरण है।

'वीणा' के साथ मेरा परिचय बड़े अजीब ढंगसे हुआ है। मैं आश्रमके रास्ते साअिकिलपर अपना चंक्रमण कर रहा था कि अेक सज्जनने मुझे रोका और कहा, 'ऑटोग्राफ (हस्ताक्षर) चाहिये।' वहांसे विद्यापीठका मकान नज़दीक था। वहां जाकर अपने मनमे जो विचार चक्कर काट रहा था अुसे मैंने लिख डाला। न मालूम 'वीणा'

को वह कहांसे मिला। हो सकता है कि मेरी बीमारीके कारण मुझसे लेख मांगना असंभव होनेसे अुस समयके सम्पादकजीने ऑटोग्राफके अुस वाक्यसे ही सन्तोष कर लिया हो। स्वाक्षरीका वह वाक्य अिस तरह प्रकट हुआ देख मुझे सचमुच ही आनन्द हो गया। मैं देखता हूं कि अिस वाक्यका प्रचार भी बहुत हुआ है। अुसपरसे मुझे अेक नये ही क्षेत्रका दर्शन हुआ। हम जन-शिक्षाके अुत्साहमें आकर लम्बे लम्बे लेख, निबंध और भाषण तैयार करते है और छपाअी की सुगमताके कारण वह सब अनायास प्रकाशित भी होता है। अुद्योगी जनसमाज वह सब ध्यानपूर्वक कैसे पढे? अुसके बजाय हमें जो कुछ कहना हो वह अगर थोड़े शब्दोंमे जनताके सामने पेश किया जाय तो लम्बे लम्बे लेखोसे छुटकारा पानेसे बचा हुआ समय लोग विचारने में आसानीसे लगा सकते है। वादविवाद और चर्चाका रस अगर हममें ज़रा कम होता और धीरजके साथ सोचनेकी आदत ज्यादा होती तो हमारा बहुतसा काम सूत्ररूपसे चलता और जनताकी विचारशक्ति को बहुत कुछ स्वतंत्रता या छूट मिल जाती। अख़बार और मासिक–पत्रिकाअें दिनरात अितनी अधिक सामग्री हमारे सामने परोसती है कि अगर अुन सबका आस्वाद हम लेने लग जायँ तो कुछ भी हजम करनेके लिये वक्त ही न बचे। सर्जक मनको आज़ादी भी चाहिये और अेकान्त भी।

मनोविज्ञानका यह सिद्धान्त विज्ञापनवाले कुछ कुछ समझ गये है, लेकिन प्रकाशक और शिक्षाशास्त्री अुसे अभी तक नहीं समझे है। ‘वीणा’ अुसमे अपवाद है। वह वार्षिक पत्रिका है। पूरे सालभरमें लेखकोंने जो कुछ सोचा होगा अुसे अगर वह सक्षेपमें दे दें तो देने-वाले को भी सुभीता होता है और लेनेवाले को भी। पुराने ज़मानेके सुभाषित भी अिसी तरह तैयार हुअे है। जिस जमानेमें आजीविका या प्रचारके लिये दौड़धूप करनी नहीं पड़ती थी, परराज्य जनता का

खून सक्शन पंपके जोरसे न चूसता था, अुस जमानेमें विचारक शांतिके साथ अुत्सव या दरबारके अवसरपर अनाथ सुभाषित लोगोंके सामने पेश करते थे, और अुसमें जान होती तो तुरन्त नये सिक्के की तरह भाषाके चलनमें घुस जाता था। अुस समयके राजाओंको अैसे सुभाषितो के लिये लक्षमुद्रा देते संकोच न होता था। आज हम सुभाषित लिखकर लक्षमुद्रा नहीं प्राप्त कर सकते, लेकिन अिसमें शक नहीं कि अुसके जरिये हम जनताका लक्ष (ध्यान) जरूर खींच सकते हैं।

किसीको लगेगा कि अपने लिखे हुअे अेक वाक्यपर यह कितना बोलता है। लेकिन अुसे मैं अपना वाक्य समझता ही नहीं। 'सलामती (सुरक्षा) खोजनेमें पुरुषार्थ मारा जाता है' यह वाक्य स्वयंस्फूर्तिसे और मेरी स्वयंवाहिनी (फाअुंटनपेन) से क्यों न निकला हो, मेरे शब्दोंमें क्यो न बँधा हुआ हो, फिर भी वह मेरा नहीं है। वह समाजका अनुभव है, अितिहासका निचोड़ है। वह राष्ट्रीय पश्चात्तापमेंसे सुलग अुठा है। जैसा कि फ्रान्सका जुबेर कहता है, 'सच्चे सुभाषित जिसके मुँहसे निकलते है अुसे भी वह और सुननेवालोंको जितना ही आश्चर्यान्वित करते है; वह हमारे मनमे प्रस्फुरित होते हैं, लेकिन अुनमें हमारा कोअी वस नहीं होता। प्रेरणा क्या कभी मनुष्य द्वारा सोच-विचार-कर निकाली हुअी होती है?' * वह तो अुसमे घुस जाती है। हम लोग अैस अुद्गारको 'अपौरुपेय' * नामसे पहचानते है। यह बात अलग है कि पिछले ज़मानेके लोगोंने अपौरुपेय शब्दका आवश्यकतासे अधिक अर्थ लिया। महाराष्ट्रके कवि रेवरंड तिलकने गाया है:

* Genuine *Bons mots* surprise those from whose lips they fall, no less than they do those who listen to them, they crop up in our minds inspite of ourselves, or at least, intuitively,–as is the case with all inspirations

ही निःश्वसितें। कोण सोडितें। मम हृदयीं, तें।
विचारुनी, भिउनी त्याला। पुढें करा मग, कर अपुला॥
[मेरे हृदयमें यह निःश्वास, काव्य के शब्द कौन छोड़ता है? पहले अुससे पूछिये, अुससे डरिये और फिर काव्य मे सुधार करने के लिये अपना हाथ आगे बढ़ाअिये।]

जिस तरह क़ानून और सरकारी साहित्य लिखनेवालेके नामपर नहीं चढ़ता बल्कि अुसका कर्तृत्व सरकारके पास जाता, है, अुसी तरह समाजमान्य अुद्‌गारोंका कर्तृत्व समाजका ही है। अैसे अुद्‌गार या सुभाषित समाजकी सत्तासे ही प्रचलित होते है। अुनकी प्रतिष्ठा और अुनका वैभव अुन्हें समाजसे ही मिला हुआ होता है। कमल कीचड़का नहीं समझा जाता, तालाबका भी नहीं समझा जाता बल्कि श्री विष्णुका, सविता नारायणका या लक्ष्मीका समझा जाता है, क्यों कि अुनके करमे ही वह कृतार्थ होता है।

अितनी अेक बात अगर आजके ज़मानेके लोग समझें और स्वीकार करें तो साहित्य शुद्ध होगा और साहित्यिकोंके अहंकारी झगड़े मिट जायेंगे।

लेकिन यह तो विषयान्तर हुआ। मैं कहना यह चाहता था कि अगर विचार और कल्पनाशक्तिको स्वतंत्रता मिल जाय और अुसे अनुभवसे परिपक्व होने दिया जाय तो अुसमेंसे लोकमान्य साहित्य तैयार होगा। मासिक-पत्रों की अपेक्षा वार्पि प्रकाशन अिसमें अधिक सहायक हो सकते है। अपरिपक्व साहित्य अपरिपक्व ख़ुराककी तरह सामाजिक शरीरको ख़राब कर डालता है, विकृति पैदा करता है और समाजको क्षीण बनाता है। साहित्य-सेवकोंको अपने साहित्यके सामने भी नतमस्तक होना चाहिये। साहित्यकी तरफ़ अिस दृष्टिसे देखना चाहिये कि वह जनतात्मा नारायणकी पूजाका ही अेक प्रकार है। जिस तरह सर्वोत्कृष्ट फलफूल चुनकर

हम भगवानकी पूजामें अर्पण करते हैं, सूखे या सूराखदार फूल या पत्ते भगवानको नहीं चढाते, अुसी तरह हलकी, विचारहीन कल्पनाअें और पापी अुत्तेजनाअें हम कभी साहित्यमें न गूँथें, शिवरात्रिके दिन जिस तरह त्रिशाखैः बिल्वपत्रैश्च अच्छिद्रै कोमलै शुभै हम पूजा करते हैं अुसी तरह विशुद्धैः वाक्प्रसूनैश्च अच्छिद्रैः कोमलैः शुभैः साहित्यकी और समाजकी अुपासना करनी चाहिये। अगर हम अैसा साहित्य पैदा करेंगे तो अपने लेखों के प्रति भी हमारे मनमें आदर पैदा होगा। प्रपत्तियोगी डाक्टर भांडारकरने कहा है, 'मैं अपने लेख अनेक वार पढ़ गया हूं। मुझे अुसमेंसे आश्वासन मिला है।' यह वचन नम्रसे नम्र साहित्यसेवकका है।

साहित्यकी यह प्रतिष्ठा आज नहीं रही। बचपनमें पढ़ा हुआ भर्तृहरिका यह श्लोक अव नये अर्थमें सच्चा लग रहा है:—

पुरा विद्वात्ताऽऽसीदुपशमवतां क्लेशहतये।
। कालेनासौ विषयसुखसिद्धयै विषयिणाम्॥

अिदानीं तु पेक्ष्य क्षितितलभुजः शास्त्रविमुखा
नही पि प्रतिदिनमधोधः प्रविशति॥ १॥

अैसा तो कोअी नहीं कहता कि साहित्यका अुपयोग वैराग्य वृत्तिके लिये ही किया जाय। लेकिन पौरुष, पराक्रम, पवित्रता, प्रसन्नता और पारमार्थिकता यह पांच लक्षण तो अुसमें होने ही चाहिये।*

  

* अहमदावादके साहित्य-अुत्तेजक समाजके वार्षिक अुत्सवके अवसरपर अध्यक्षपद से दिया हुआ अभिभाषण—१९२८

कवि और सन्त : : : :

पुराने जमानेमें भक्तिमार्गी और योगमार्गी सन्त काफ़ी तादादमें कविताअे करते थे। सन्तोंकी कृतिओंमें कविता तो आती ही थी। यह बात नहीं कि सभी सन्तोंकी कवितामे काव्यगुण या प्रसादगुण होता ही था। लेकिन भक्तिभावपूर्ण लोगोंके मनकी कुछ अैसी गढ़न या पूर्वतैयारी चली आयी है कि जिसका जीवन पवित्र है, जिसने अपना जीवन परमेश्वरके चरणोंमें समर्पित किया है अुसकी छंदोबद्ध वाणी पवित्र, बोधामृत पिलानेवाली तथा अनुभवमूलक होती है और अिसलिये अुसे प्रासादिक समझना चाहिये और अुसमें काव्य देखना चाहिये। अतः अुन्होंने यह न देखकर कि काव्यका सच्चा लक्षण क्या है, काव्यकी अैसी ही परिभाषा बनाना तै किया जिसमें सन्त-वाणीका समावेश हो सके।

यह हुअी सन्तोंकी बात। अितिहास, पुराण और पौराणिक काव्य लिखनेवाले सभी कवि सन्त थे अैसा दावा हालाँकि नहीं किया जा सकता, फिर भी वह 'धर्मग्रंथ' लिखते हैं, अीश्वरी लीलाका वाङ्मय-विस्तार करते हैं और धर्मशिक्षा को दृढ़ बनाते हैं अिसालिये अुनकी छंदोबद्ध रचनाको भी काव्य ही कहना चाहिये, अैसा लोगोंको लगता था। आज भी सामान्य लोगोंकी धारणा यह है कि छंदरचना ही काव्य है। पौराणिक कथाअें और अवतारी पुरुषोंके लीलामृत वर्णनात्मक होनेसे अुनमें काव्यगुणके लिये अच्छा खासा अवकाश रहता। अैसी रचनाओं में कहीं कहीं काव्यगुण चमक अुठता है फिर भी अुसके वातावरणमें रचनाका रुक्ष भाग भी वस्तु या कथाके प्रवाहमें रोचक बनता है और चाहे जितनी लम्बी कलाकृति भी पढ़ने योग्य बनती है।

केवल शृंगारिक या अश्लील लावनियों (गीतों) या शृंगारशतकों की बात तो बिलकुल अलगही है। अुनकी रचनामें काव्यगुण हो या

न हो, कामुकता को अुद्दीपित करनेकी सस्ती शक्ति अुनमें अवश्य होती है। अिसलिये विलासप्रिय मनुष्यको अुसमें सहज ही काव्यगुण दिखाअी देता है और दूसरी तरफ अैसे रँगीलेपनमें सच्चा काव्यगुण हो तो भी वह नीतिविघातक होनेके कारण शिष्ट समाज या दांभिक प्रतिष्ठाको अुसकी निन्दा करनी ही पड़ती है। (वास्तवमें देखा जाय तो श्री के मानी हैं रमणीयता, अश्री यानी रमणीयताका अभाव। अिस अश्री परसे ही अश्लील विशेषण बना है। यह अश्लील शब्द सदाचारवादियोंने नहीं बल्कि सुरुचिवादियोंने, कलाकोविदोंने बनाया है। अतः जो अश्री-अश्लील होगा वह रम्य या रमणीय कैसे हो सकता है?) अश्लील पद्यरचनामें काव्यगुण न हो तो भी वह रँगीले लोगोंमें अत्यत प्रिय होगा ही; और अश्लीलताके वायुमंडलको छेद कर अुससे काव्यरसका फव्वारा निकल आये तो भी शिष्ट या समाजहितैषी लोग अुसे हरगिज़ मंजूर न करेंगे।

पुराने ज़मानेकी परिस्थिति अिस तरह की थी। वर्तमान समयके सन्त काव्य बहुत कम करते हैं। पुराने काव्य काफ़ी होनेके कारण अुन्हींसे अुनका काम चल जाता है और आधुनिक युग सन्तकाव्योंका न होनेसे (यानी अुनके लिये अनुकूल न होनेसे) आधुनिक सन्त व्याख्यानों, प्रवचनों, बोधवचनों या सुभाषितों द्वारा ही अपना हृदय, अपनी श्रद्धा तथा अपने अनुभव व्यक्त करते हैं और दूसरी तरफ हमेशा सन्तपनमें ही मस्त होकर रहनेकी आवश्यकता या ज़िम्मेदारी अब कवियोंको महसूस न होनेसे वह चाहे जिस विषयपर, चाहे जैसी वृत्तिमें आकर या अुसे धारण करके काव्यरचना करने लगे हैं।

क्या सन्त, क्या कवि, दोनोंमें अनन्त प्रकारकी वृत्तियां या भावनाअें (moods) प्रस्फुरित हुआ ही करती है। जिस समय जो भावना प्रबल हो अुस समय वह भावना अुनके लिये सच्ची ही होती है। कभी कभी अिन भावनाओंमें अुच्च कोटिकी अुत्कटता हो तो भी स्थिरता,

वीर्य या जोश न ीं होता। जिस तरह नाटकका अभिनेता वीर रसका चाहे जितना दिखावा करे तो भी हम अुसके पीछे वीरोचित जीवनकी अपेक्षा नहीं रखते, अुसी तरह कवि अलग अलग भाव प्रगट करे तो भी अुससे अुन भावोंके अनुकूल बर्ताव की अपेक्षा हम नहीं रखते। लेकिन सन्तों की बात अैसी नहीं है। हम तो मान ही लेते हैं कि सन्त के परम पारमार्थिक प्राणी है। हममें अेक अपेक्षा यह होती है कि 'सन्त जैसे बोले वैसे ही चले।' और िलिये सन्तोंको अनेक प्रकारकी भावनाअोंमें विहार करनेकी, अूँचा अुड़ने ी और आशा-निराशा, सन्तोष-असन्तोष, संभोग-विप्रलंभ आदिके आरोह-अवरोह करनेकी पूरी तरह छूट होते अे भी अुन्हें अनुभवके तंबूरेका र कायम रखकर अुससे विसंवादी न हो ि स तरह सभी आलाप और प्रलापके तार छेड़ने पड़ते हैं। और अगर शब्दार्थ से ही चिमटकर रहनेवाला कोअी दुर्दैवी भक्त मिल जाय तो अपने परस्परविरोधी वचनों की अेकवाक्यता करके दिखानेकी जिम्मेदारी अुनपर या अुनके अभिमानी विवेचकपर आ पड़ती है। [अिसमें अगर मयाबी न मिली तो रहस्यवाद (Mysticism) का आश्रय लेनेकी सहूलियत तो सही, लेकिन अनुभवमात्र पारमार्थिक और परम सत्य होनेसे विरोध परिहार करनेकी ज़िम्मेवारी कभी टाली नहीं जा सकती।] लेकिन कवि तो आखिर निरंकुश ठहरा। वह कहेगा, 'अेकवाक्यता कैसी? जड तथा मूढोंके वचनोंमें अेकवाक्यता हो तो ायद हो, मैं तो अपनी प्रतिभा मुझसे जैसा कुछ कहलवाती है, बोलता हूं। आप अैसी ग़लत कल्पना किसलिये कर ते हैं कि मैं अेक व्यक्ति हूं? मेरा दिल अेक ाकर्षक सराय है। वहाँ कितने ही अजीबोग़रीब लोग आकर ठहरते हैं और चले जाते हैं। क्या आपको कभी अैसा लगा है कि आपकी मेजपरका टेलिफोन अेक ही ढंग की बातें किया करे, आपका ग्र मोफोन अे ही प्रकारका संगीत गाये, आपकी पार्लमेंट परस्पर

विसंवादी प्रस्ताव बनाये अथवा पास करे, या आपकी म्युनिसिपालिटी अेक ही धर्मका पालन करे ? मै अेक नहीं अनेक हूँ। मै कोअी व्यक्ति नहीं, समुदाय हूं। जिस दृष्टिसे आप समुदायकी तरफ देखते है वही दृष्टि आप मेरे सम्बन्धमें रखें, अुत्कट भावनाओंके वश होनेकी अनाग्रहिता (Passivity) मुझमे है। यह सब आपकी समझमे न आता हो तो मै क्या करूँ ? मै तो जैसा हूँ वैसा हूँ। मेरा जो कुछ आपको करना हो करे। मेरी तरफ़ ध्यान न देनेसे आपका न चलेगा। मोहक सुन्दर बालक शरारते करके आपको परेशान करे तो भी आपको वह सब प्यारा लगता है; अुसी तरह मेरे परस्परविरोधी बोल आपके हृदयमे जबर्दस्ती पैठ ही जाते है और आपको मजबूरन् अभिमुख करते है। अुसे आप भी क्या करेंगे और मै भी क्या करूँ ? मुझे अपना अस्तित्व साबित नहीं करना पड़ता और अुसका बचाव भी नहीं करना पड़ता, तो फिर फ़िजूल झगड़ा किसलिये करे ? मुझे अपना साथी समझिये या अेक व्यसन समझिये; अितनी बात तो बिलकुल साफ है कि मै आपसे चिपक ही गया हूँ।'

क्या सचमुच ही कवि हमारी दुर्बलतासे नाजायज़ फायदा अुठाते है ? हमारा जीवन व्यवस्थित नहीं है। जिस तरह बड़े समूहके सामने कोअी स्थायी आदर्श या हेतु नहीं होता अुसी तरहका हमारा जीवन है। क्या अिसलिये वह अुससे अनुचित लाभ अुठाते है ? या कविकी साधनाशून्य, साधनाविहीन भावनाओं मे भी बुद्धिसे परे कोअी अेकताका तत्त्व सचमुच ही छिपा हुआ होता है ? या फिर सन्त और कवि दोनोंमें कोअी अन्तिम भेद ही नहीं है ? सन्त यानी अुत्कट भावनाके साथ साधनाका वरण करनेवाले लोग, और कवि यानी अनन्त प्रकारके साधना-प्रवाहमे बरबस खिंचे जानेवाले विचित्र समुदाय-अितना ही दोनोंमें फर्क है। चाहे जो कहिये, लेकिन सभी सन्तोंके वचन अेकत्रित करने पर अुनमें भी आपसमे

कुछ कम विरोध दिखाओ नहीं देता। अैसी श्रद्धा नहीं बैठती कि जो कविता सन्तवाणीके नामपर खपती है वह सब अनुभव-वाणी ही होगी। अनुभवका नाम तक न हो तो भी पुराने सन्तोंकी परिभाषाका प्रयोग करके सन्तवाणी जैसी कविता आसानीसे तैयार की जा सकती है। सन्तवाणीका अेक तंत्र बन चुका है। अुसकी मर्यादाओं का पालन करके कविता तैयार की जाय तो फिर अिस बातका डर रखनेका कोओ कारण नहीं कि अुसमें कोओ टोके। और मान लीजिये कि थोड़ासा अनुभव है भी, फिर भी यह कौन कह सकता है कि वह जीवनके परम रहस्यकी दृष्टिसे सच्चा ही है? अैसा साबित करने की जिम्मेदारी भी कौन स्वीकार करता है? अेक तरफ यह आग्रह रखा जाता है कि सन्तवाणीमें आपसी मेल होना ही चाहिये, वह प्रगट होना ही चाहिये और दूसरी तरफ़ चाहे जिस तरीकेसे अैसा मेल दिखानेवाले तर्कवीर या बुद्धिकी कसरत करनेवाले, करतब दिखानेवाले नट ढेरों पडे है।

अब समय आगया है कि सन्तवाणीमें खपनेवाली सभी कविताओंमें परम रहस्यका अनुभव है ही अैसा न मानकर, सामान्य कविके काव्यकी तरह अुन्हें समझकर सत्य और समृद्ध जीवनदर्शनकी दृष्टिसे अुनका संशोधन हो। जो भावनाअें आत्मिक विकासके लिये प्रतिकूल हों अुन्हें सावधान करना चाहिये, और प्रसंगवशात् अुनके कान भी अैंठने चाहिये। सन्तवाणीका पासपोर्ट (परवाना) लेकर जो कल्पनाअें आज समाजमें बे रोकटोक फैल गयी हैं और विचार तथा भावोंका अराजक पैदा करके समाजको बुद्धिदुर्बल, विचारदुर्बल और प्रयत्न-शिथिल बना रही हैं अुन सब कल्पनाओंको अिकट्ठा करके, जिस तरह अशोकके समयमें बौद्ध भिक्षुओंकी परीक्षा ली गयी थी, कौनसे वचन धर्मानुकूल हैं व कौनसे धर्मबा हैं यह धर्मसंगीतमें निश्चित किया गया था, अुस तरह अिस समय भी करनेका वक्त आ गया है। य

तैं करना बहुत मुश्किल है-और यही अेक बड़ी कठिनाअी है-कि अिस संगीतिमें किसको नियुक्त किया जाय और किसको न किया जाय, तथा सच्चा, समृद्ध तत्त्वज्ञान किसे कहना चाहिये।

स्वामी दयानंदजीने बहुत ही संकुचित कसौटी लेकर अुसपर प्राचीन धर्मग्रंथोंको कसके देखा और अुनके प्रामाण्य-अप्रामाण्यका निश्चय किया। जीवन कोअी अितना तर्क-संकुचित नहीं हुआ करता। दुनिया की सारी चिन्तनराशिका विचार करके, भिन्न भिन्न संस्कृतिओंकी व्यापक दृष्टि धारण करके प्रत्येक मंडलको कुछ नहीं तो अपने लिये ही सही, अिस दिशामें संशोधन करनेकी आवश्यकता है।

सन्तवाणीमे आनेवाली अलग अलग भावनाओंको अेक के बाद अेक कसौटीपर कसके ही अूपर कही हुअी बातें स्पष्ट की जा सकती हैं।

अिस कसौटीके शास्त्रका या संशोधनशास्त्रका आलोचन और सन्तवाणीका अवगाहन जितना अधिक किया जाय अुतना यह काम अधिक अच्छी तरह सम्पन्न होनेवाला है। लेकिन किसीको तो अिस दिशामे प्रयाण का प्रारंभ करना ही चाहिये।

—जनवरी १९३६

  

: : : लोककथाकी शैली

दुनियामें कथाअें तो बहुत हैं, मगर अुनमें लोककथाअे तो बिलकुल अलग दीख पड़ती है। लोककथाओंका विषय, अुनकी भाषा और शैली बिल ल न्यारी ही होती है। आजकल लोककथाओं के संग्रह किये जाते हैं और बालशिक्षा में अुनका अुपयोग होता है।

यह अेक मुख्य सवाल है कि अिन लोककथाओंकी भाषा कैसी होनी चाहिये। अमुक समय में लोकवृत्ति कैसी थी, लोकाचार कैसा था आदि बातें लोककथाओंसे निश्चित करनेकी अिच्छा रखनेवाले संस्कृति के अभ्यासी लोककथा को अुसी स्वरूप में रखना चाहते है जिस स्वरूपमें वह हमारे हाथमें आ गयी हो। वेदपाठियोंकी तरह वह मानते हैं कि कथाका प्रत्येक अक्षर पवित्र हो। भिन्न भिन्न संस्कृतियोंके बीचका साम्य तथा प्रत्येक संस्कृतिका विचार निश्चित करने में अिन लोककथाओंका अुपयोग बहुत ही होता है। अमुक लोककथा पाठान्तर-के साथ कहाँ कहाँ प्रचलित है यह तै करनेसे हम बहुत ही महत्त्वका प्राचीन अितिहास प्राप्त कर सकते है और अिसीलिये अितिहास-संशोधक या पुरातत्त्ववेत्ता प्रत्येक कथाका प्राचीनतम स्वरूप बनाये रखनेका प्रयत्न करता है।

साहित्यशास्त्री और मनोवैज्ञानिक भी दूसरे उद्देश्यसे अिसी निर्णयपर आते हैं। शिष्टसाहित्य और लोकसाहित्यके बीचका भाषाभेद महत्वका होता है। जंगल के कुछ पौदे बग़ीचेकी कृत्रिम परिस्थितिमें अुग ही नहीं सकते। छोटे बच्चोंको प्यार करनेसे या अुनके लाड़ लड़ानेसे अुनकी स्वाभाविक प्रसन्नता नष्ट होती है और फिर हम स्वयं ही बच्चोंमें जो कृत्रिमता अुत्पन्न करते हैं अुससे असन्तुष्ट हो जाते हैं। लोककथाओंकी भी यही हालत है। जिस तरह अल्पश्रुत मनुष्यके हाथमें जाते वेद डरते हैं, अरसिकके हाथमें जाते कविता भयभीत हो जाती है, अुसी तरह सुसंस्कृत शास्त्रीके हाथमें जाते लोककथा डर जाती है। जिस तरह अमेरिकन संस्कृतिमें वहाँ के रक्तवर्ण मूलनिवासी नामशेष हो रहे हैं अुस तरह साहित्याचार्योंके हाथमें जानेसे लोक-कथाअें मर जाती हैं। संगीतप्रवीण व्यक्ति के हाथमें जानेसे लोकगीत-की जो दुर्दशा होती है वही दुर्दशा शिष्ट साहित्यरासिक के हाथमे पड़नेसे लोककथाकी हो जाती है। मनुष्यहृदयका जिसे संपूर्ण

परिचय है, जनसमाजकी अभिरुचिपर जिसकी पूरी श्रद्धा है वही कह सकता है कि: दूरीकृता खलु गुणैः अुद्यानलता वनलताभिः ।

लोकशक्तिका निरीक्षण करनेवाले मनोवैज्ञानिक निर्व्याज वृत्तिके ही लोगोंमें चलनेवाली कथाअे पसन्द करते है और अुनकी भाषा भी वह जैसी की वैसी ही रखना चाहते है । अिस तरह पुरातत्ववेत्ता, भाषाशास्त्री तथा मनोवैज्ञानिक लोककथाकी अितनी हिफ़ाज़त रखते है। लेकिन यह हिफ़ाज़त ही बता देती है कि लोककथाकी आत्माके साथ अुनका परिचय नही है। घासफूस भेरे हुअे पक्षियों के मुर्दे या मिस्रकी ममी सँभाल के रखनेवाले वस्तुसग्राहककी वृत्ति अुनमें होती है। यूरपमे अिजिप्टोलॉजिस्ट या अिंडोलॉजिस्टके नामसे पहचाने जानेवाले कुछ पुरातत्वविद् होते है । वह भारतभूमि या मिसर-देशकी प्राचीन संस्कृतिके अवशेष अैतिहासिक अध्ययनके लिये सुरक्षित रखनेका प्रयत्न करते है। लेकिन वह आर्य या मिस्री संस्कृतिका अुत्कर्ष तो नहीं चाहते । मिसरके या हिन्दूलोग अुन्हें अगर अपना नेता बनायें तो यह दोनों देश मुर्दा ही बन जायेंगे, क्योंकि अुनमे अिन दो संस्कृतियोके अवशेषोंसे मोह होता है, न कि प्रेम या वात्सल्य ।

लोककथाअें अेक खास वृत्तिका फल है। जिस तरह पेड़ असंख्य फल पैदा तो करता है लेकिन अुनका संग्रह करनेकी कोशिश नहीं करता अुस तरह लोककथा के पीछे की मुग्ध निर्व्याजता हममें हो तभी पुरानी लोककथाओकी रक्षा की जा सकती है और नयी कथाओका निर्माण भी किया जा सकता है।

मै अेक बार अपने यहॉकी लोककथाओंका संग्रह करने निकला था । लोककथाओंकी भाषा हर्फ़बहर्फ़ वैसी ही रखनी चाहिये अिस सिद्धान्तका हिमायती होनेसे मै लोगोंसे भी अुसी खबरदारीकी अपेक्षा रखता था।

गा   ान् गाअू बांधील
रवान् त स खाणील
अेवढ त   खणल्या वरी
तळ्या पाणी कां   ागेना
तळ्या पाणी ां ागेना

गॉवके लोग मेरी तरफ़ देखकर हॅसने लगे। अुन्हें यह देखकर आश्चर्य होता कि गॉवके रअीसका अक्लमंद लड़का कालेजमें पढा है। फिर भी अितनी सी भाषाकी रचना करना भी नहीं जानता। अुनमें मै तिरस्कारकी छटा देख सका। अुन्हे मैं कैसे समझाता कि अपनी पढ़ाअीके कारण ही मैं लोकभाषाके लिये पराया बन गया हूँ? थोडी कहानी कहने के बाद अूबकर वह बची हुअी कहानीका सारांश कह डालते और कहते, "अिसका ब्यौरा तुम ख़ुद ही लिख लो।" अुनके लिये वह बहुत आसान था। मुझे अैसा लगता है कि अुस प्रदेश में 'अुमाअी' की कहानी हजारों सालोंसे प्रचलित होगी। भाषामें हेरफेर ज़रूर हुआ है। फिर भी देहाती लोगोंके मुॅहमे अुसका लोककथापन बिलकुल नष्ट नहीं हुआ है। वे प्राचीन लोकवृत्तिके वारिस है। कथामें चाहे जो परिवर्तन करनेका अुन्हे अधिकार है, क्यों कि लोकवृत्ति, जो कि लोककथाकी आत्मा है, अुनमें प्रस्फुरित हुअी होती है। वह अितिहासी नहीं बल्कि प्राणोपासक होते है। वह पूर्वजोंके मुर्दे सँभालना नहीं चाहते बल्कि पूर्वजोंके प्राणोंसे प्राणित होना चाहते है। अितिहास अुनकी नसनसमे समाया होता है। जिन्होने अपने जीवनमें अितिहास के नवनीत को आत्मसात् किया हो वह किस लिये अितिहासके छिलके-तलछट सॅभालकर रखे?

बालशिक्षामें हमने लोककथाओंको किसलिये स्थान दिया है? मरे हुये ज़मानेके अवशेष के तौरपर या अुसके प्राणके तौरपर?

आम शिक्षा कोओी शुद्ध लाभ नहीं है। जब शिक्षा आम या सार्वत्रिक होगी तब लोगोंकी मुग्धवृत्तिके नष्ट होनेकी बहुत संभावना है। लोगोका आनन्द लुट जायगा, सन्तोष नष्ट होगा, अशान्ति फैलेगी और सामाजिक विप्लवका बीज बोया जायगा। क्या अिस सकटसे बचने के एक अुपायके तौरपर लोककथाद्वारा लोकवृत्तिकी स्वाभाविकता की हम रक्षा करना चाहते हैं? या सामाजिक परिवर्तनके कारण जो जमाना बीतता जाता है अुसके श्राद्धके तौरपर हम लोककथाओका संग्रह करते हैं? श्राद्ध तो अेक दो ज़मानों तक ही चलेगा। फिर तो अिस श्राद्ध परसे भी श्रद्धा अुड़ जायगी। जब दूसरे महत्त्वके विषयो की भीड़ हो जायगी तब लोककथाको कौन पूछेगा?

कुछ विकासवादी दूसरी ही दृष्टिसे बालशिक्षामे कथाको स्थान देते हैं। वह कहते हैं, "मनुष्यको अपनी अल्पसी जिन्दगी में सहस्रावधि वर्षोंके विकासकी पुनरावृत्ति करनी पड़ती है और अिसलिये शिक्षाका क्रम अुस मानवी विकासके क्रमके अनुसार ही होना चाहिये।" अिस दृष्टिसे बालकथाअें बहुत अगत्यकी हैं। यह विकासवादी भी बालकथाओका मूल स्वरूप जैसा का वैसा ही रखना चाहते है। अितिहासीकी दृष्टिसे पुराने समयकी चीजें आजके ज़मानेमे असत्य हैं। विकासवादी लोग अिसका विरोध करके कहते हैं कि प्रत्येक व्यक्तिका विकास समाजके अैतिहासिक विकासके अनुसार होनेसे प्रत्येक सीढ़ी हमेशाके लिये सत्यरूप है और अिसलिये वह बालकको मानवजातिके बाल्यकालका प्रतिनिधि समझकर अुस कालके अितिहास और लोकस्थितिको बालशिक्षाका मुख्य आधार या मूलमंत्र मानते है।

अिन सबसे अलग अेक नया पक्ष है। अिसे हम जीवनवादी कहे। वह कहते हैं, " हर क्षण जीवन सम्पूर्ण है। जीवन की अलग अलग

दशाओं मे साधनदशा और अुपभोगदशा जैसे फ़र्क करनेका कोअी कारण नहीं। प्रौढ़ काल जितना सत्य और अुपभोग्य है अुतनाही बाल्यकाल भी है। अुसे केवल साधारण समझना बालकोंके प्रति अन्याय और अीश्वरका अुपमर्द करने के समान है।"

रवीन्द्रनाथ.ठाकुर का 'शिशु' (The Crescent Moon) अिसी वृत्तिसे लिखा हुआ है। अुसमें नयी–पुरानी सभी बालकल्पनाअें दाखिल हुअी हैं। अब अिस पंथकी जाँच करनी चाहिये। नीतिवादी शिष्टजनोंमें नीतिकी रक्षा करने का और छोटे बच्चोके कानोंमें अशिष्ट शब्दोंका अुच्चारण भी न पड़ने देनेका आग्रह रहता है। अुनका मार्ग बहुत ही कठिन होता है। बेचारोंको हर चीज़ में दिलचस्पी होती है, लेकिन कोअी चीज़ निर्दोष मिलती ही नही और अिसलिये वह स्वयं दुखी रहते है तथा बालकोंको भी दुखी करते हैं।

हर ज़माने की नीति सम्बन्धी कल्पना अमुक अंशमे अलग होती है। शिष्टाचारकी कल्पना भी भिन्न होती है। संस्कृत भाषामे कुछ वाक्यप्रयोग अैसे है जो अत्यंत शिष्ट और शुद्ध माने गये है लेकिन जिसका अुच्चारण करते हमें शर्म आयेगी। जिस तरह अंग्रेज़ सरकारको प्रकाशित होनेवाली प्रत्येक लेखनकृतिपर पहरा रखने की अिच्छा होती है अुस तरह अिन नीतिवादियोंको हर चीज़का नया संस्करण तैयार करने की ख्वाहिश रहती है। अुनका आग्रह यथार्थ है, लेकिन अुसका अतिरेक मूर्खतापूर्ण होता है। कभी कभी अिस अत्याग्रह के कारण ही अनिष्ट परिणाम हुआ करते है। जीवनवादी लोग उनसे कहते है, "आप अपनी दृष्टिसे निर्णय न करें। जिस तरह हर ज़माने की नीतिकल्पना भिन्न होती है अुस तरह बाल्यकालकी नीति भी अलग ही होती है। जिस तरह कुछ चीज़ें बड़ी अुम्र के लोगोंके लिये निर्दोष होती हैं और वही चीज़ें युवकोंके लिये हानिकर होती हैं, अुसी तरह जिस चीज़का असर

आपपर बुरा होता है अुसका बच्चोंपर कोअी भी असर नहीं होता। जो सिद्धान्त नीतिके विषयमे वही सिद्धान्त शिष्टता और ग्राम्यता (अशिष्टता) के विषयमे भी लागू है। छोटे बच्चोंकी कहानियों और बातचीतमें पादने का अुल्लेख तो आता ही है। हम लोग अुसे अनिष्ट समझते है। रामायण, महाभारत, आदि आद्यग्रंथोंमे कृत्रिम शिष्टाचार या कृत्रिम नीति नहीं होती; और स्त्रीपुरुष, आबालवृद्ध अुनका पारायण करते है; फिर भी किसीपर अुसका बुरा असर नहीं पड़ा है। अिसका कारण यही है कि अिन आद्य ग्रंथो में जीवन का प्रवाह खुला और अिसलिये सत्य है। रामायण-महाभारत का जीवनप्रवाह अितना समृद्ध और वेगवान है कि अुसमे गंदगी पैदा ही नही हो सकती। जीवनके वीर्यपर और प्राणकी शक्ति पर अुनकी जो श्रद्धा है वही अगर हममे हो तो तनिक भी पहरा दिये बिना हम विद्यार्थियो को बढ़िया से बढ़िया शिक्षा दे सकते है। अुससे अशिष्ट और ग्राम्य वस्तुके विषयमें बच्चोमे यथार्थ कल्पना और आवश्यक घृणा अुत्पन्न होगी और कुछ भी छिपाकर रखने की जरूरत न रहेगी।

सारांश अगर बालजीवन को सत्य मानकर बालशिक्षाका प्रश्न हम हाथमें ले लें तो बालशिक्षाके सिद्धान्त बालकोंसे ही मिल सकेंगे।

  

सार्वभौम कहानी

अुत्तर ध्रुवसे लेकर दक्षिण ध्रुव तक दुनियाके सभी देशोमें, बड़े बड़े महाद्वीपों या छोटे छोटे टापुओमें सुधरे हुअे-सभ्य-तथा जंगली लोगोमें, बूढ़ों और बच्चोमें, गृहस्थों तथा संन्यासियोंमे अगर कोअी सर्वसामान्य व्यसन है तो वह कहानीका है। दुनियामे अैसा अेक भी गाँव न होगा जहाँ शाम हुअी है फिर भी कहानी न चलती हो।

आजके ज़मानेमे रेलगाड़ी, तार, धुवाँकश (जहाज़), बेतार यंत्र (वायरलेस टेलिग्राफ़), अख़बार और छापेखाने बढ़ गये है। अिस-लिये दुनियाकी चाहे जो वस्तु चाहे जहाँ पहुँच सकती है। लेकिन जब अिस तरहके कोअी भी साधन न थे तब भी कअी कहानियाँ हवाकी तरह त्रिखंडमें घूमती थीं यह सब साबित हो गया है। कुछ छोटी छोटी, सीधीसादी, किन्तु सुन्दर कथाअें जब हम अपने गाँवमें सुनते है तब हमे अैसा लगता है कि यह कहानियाँ ज्यादा से ज्यादा बारह कोसोंके अन्दरही घूमती होंगी, लेकिन शोधखोज करनेपर मालूम हो जाता है कि वही की वही कहानी देशकालानुरूप कुछ थोड़ेसे परिवर्तित वेशमें अरबस्तानके तंबूमें, सहाराके मरुस्थलमें, मध्य अेशियाके जगपुरातन शहरोंमें या रशियाके झोपड़ोंमे छोटे छोटे बच्चे अपनी दीदी माँकी गोदमें बैठकर सुनते हैं।

कहा जाता है कि आधुनिक साधनोके कारण अिस विशाल दुनियाका अेक शहर बना है जिसके अन्दर हर देश अेक गलीकी तरह है और शहर घर बने है। फिर भी पुराने ज़मानेमें प्रत्येक देशके लोग अन्य देशवासियोंका लोकजीवन हमारी अपेक्षा अधिक जानते थे।

यह बात हमे जितनी असंभाव्य लगती है अुतनी ही वह संभाव्य है। देशविदेश देखनेके लिये ज़िंदगीके तीस चालीस साल बितानेवाले मार्कोपोलो, अिब्न बतूता या ह्युअेनत्संग आज कहाँ है? पुराने ज़मानेमे व्यापारी और परिव्राजक सारी दुनियामे घूमते और देश-विदेशकी अजीब अजीब चीज़ोंके साथ नये नये विचार और सुन्दर सुन्दर कहानियोंका विनिमय करते थे। स्पेन्सरकी 'फेरीक्वीन', बॉकेशियाका 'डिकमेरोन', 'अरेबियन नायटस' आदि ग्रंथोंमे अिस प्राचीन प्रथाका स्मरण है।

हिन्दुस्तानमें भी यात्राके लिये निकले हुअे ऋषिमुनि जहाँ कहीं सत्र चलता हो वहाँ थोड़े दिन विश्राम करके अत्यंत अुत्साहके साथ

धार्मिक कहानियोंका विनिमय या आदान प्रदान करते। बुद्ध भगवान भी हर रोज शामके वक्त श्रमण भिक्षुओको अिकठ्ठा करके जातक-कथाअे कहते। अीसामसीह जब धर्मोपदेश करते तब कहानियों द्वारा ही अुसे दिलोतक पहुँचा देते। कहानियोंके पीछे पागल होनेवाले और कभी खत्म न होनेवाली कहानी सुननेके लिये सारे राजपाटको हाथसे जाने देनेपर अुतारू होनेवाले राजाओंके विषयमें भी हमने सुना है। जो अच्छीसे अच्छी कहानी सुना सकता अुसके भारीसे भारी अपराध भी पुराने ज़माने मे माफ़ किये जाते। जहाँ जहाँ व्यापारका पुराना केन्द्र था वहाॅ वहाॅ दूर देशविदेशके व्यापारी सरायोमे अिकठ्ठा होते और चतुराअीकी, ठगबाज़ीकी, आशिक़माशूक़की, कुत्ते-बिल्लियोंकी, राजारानीयोंकी, साधुसन्तोंकी अीश्वरीय क्षोभकी या दैवी चमत्कारोंकी, मंत्रतंत्रकी या जादूटोनोकी कथाअें तो जरूर चलाते। अब भी जहाॅ रेल नहीं गयी है वहाॅ यह सब देखा जा सकता है। काश्मीर तथा नेपालमे व्यापारियोसे भरी सरायोंमे मैंने अैसी कहानियाॅ सुनी है।

यह कहानियाॅ मुसाफ़िरोंको बड़ी से बड़ी शिक्षा देनेवाली होती है। अिन कहानियो द्वारा अिस बातका साक्षात्कार मिलता है कि दुनियामे सब जगह मनुष्यस्वभाव अेक-सा ही है, सुखदुखके कारण अेक-से ही है और सुखकी ही वस्तुसे सबका हृदय आवेशमे आता है और दयासे पिघलता है। जो आश्वासन हमें धर्मपुस्तकोसे, पुराण या कुरानसे, बाअिबल या तलमूदसे मिलता है वही आश्वासन अमरीकाके नीग्रो गुलामोको अुनके बापदादाओं द्वारा अफ्रीकासे अपने साथ लायी हुअी कहानियों और गायनोसे मिलता है।

कहानियोंका शौक जितना हिन्दुओंमें है अुतना या अुससे भी ज्यादा मुसलमानोंमें है। आजके पाश्चिमात्य साहित्यमें हमारे मुग्ध हृदयको अपना जैसा कुछ नहीं लगता। लेकिन यूरपकी, और ख़ास

करके दक्षिणी और पूर्वी यूरपकी लोककथाओंमें हम अपना हृदय प्रतिबिंबित हुआ देखते हैं। यूरेशियन संस्कृतिसे अलग पडे हुअे आअिसलैंडके लोगोंकी सगाओं (पौराणिक कथाओं) में भी हमे अिसी सार्वत्रिक मानवी स्वभावका दर्शन होता है।

बौद्धकालीन जातककथाअे लीजिये, जैनकालीन पंचतत्र लीजिये, विष्णुशर्माका हितोपदेश पढ़िये या मिसर देशके ओीसपकी नीतिकथाअें पढ़िये, मनुष्य परिस्थितिके साथ, तिर्यग्योनियोंके साथ, जीवसृष्टिके साथ अेकरूप हुआ दिखाअी देता है। रामायणमें भी पशुप ी, मत्स्य, वानर आदि सब प्राणियोंके साथ वाल्मीकि अेकरूप हो सकते हैं। अिस समभावके कारण हम सब प्राणियोंपर प्रेम कर सकते थे, अुनके स्वभावपर से बहुत कुछ सीख सकते थे और अिसलिये यह समझना आसान था कि सर्वत्र अेकही आत्मा है। A cow has no soul (गायके आत्मा नहीं होती) जैसा वाक्य प्रेमके पुराने ज़मानेमे किसीके दिमाग़में पैदाही न होता था। कहानियाँ मनुष्यजातिका सबसे पुराना और अत्यंत व्यापक जीवनरहस्य (Philosophy of life) है।

धार्मिक आचार, स्मृतिके नियम, राजा तथा धर्मगुरुओंकी आज्ञाअे, सामाजिक रिवाज आदि अनेक वस्तुओंसे मानवी मन और हृदय बद्ध हैं और अिसलिये अुन्हें कृत्रिमता रखनी पड़ती है। लेकिन कथाओंमें मनुष्यहृदयको, मनुष्यकल्पनाको पूरी आज़ादी रहती है। हृदयके भाव और सहजस्फूर्तिसे अुत्पन्न होनेवाले विचार कहानियोंमें परिपूर्ण रूपसे प्रकट होते है। अगर यह देखना हो कि किसी भी समाजकी अुन्नति हॉ तक हुअी है तो वह धर्मशास्त्र देखनेसे मालूम न होगा, स्मृतिओंमें न मिलेगा, शिष्ट ग्रंथोंमें खोजा न जा सकेगा और अितिहासमें से भी अुसे ढूँढ निकालना मुश्किल है; मगर किसी भी समाजकी अमली या व्यावहारिक संस्कृति कैसी और किस दर्जेकी

है असका सम्पूर्ण खयाल अुस समाजकी मौलिक लोककथाओंसे पूरी तरह आ सकता है। धर्मग्रंथोंमे अुस समाजके सबसे अुच्च आदर्श मिलते है। अितिहासोंसे अिस बातकी कल्पना आ सकती है कि अधिकारी वर्गों या जातियोंका जीवन कैसा था। शिष्ट ग्रंथोंसे यह स्पष्ट होता है कि विद्याका प्रवाह किस दिशामें और किस वेगसे बहता था। लेकिन लोकजीवनका यथार्थ चित्र तो लोककथामें ही मिलता है।

अतः किसी भी संस्कृतिका सर्वांगसुन्दर अध्ययन करना हो तो अुस देशकी धार्मिक कथाअें, अैतिहासिक वृत्तान्त और लोककथाअें मालूम करनी ही चाहिये। कहानी शिक्षाका स्वाभाविक स्वरूप है, क्योंकि मनुष्यजीवनका अुसमे परिपूर्ण चित्र होता है। यह स्वाभाविक है कि मनुष्यको जीनेमें अधिकसे अधिक आनन्द मिलता है और अिसीलिये मनुष्यमात्रको जीवनकी प्रतिबिंबरूप कथाओंमें अधिकसे अधिक रस मिलता है। धर्मग्रंथ प्रभुकी तरह आज्ञा करते है, अितिहासकी किताबें मित्रकी तरह अक्ल ठिकाने लाती है, लेकिन लोककथाअें प्रेममयी सहधर्मचारिणी की तरह मनको वश करके मानवी स्वभाव और मानवी जीवन के विषय मे शिक्षा देती हैं। तीनोंकी आवश्यकता है। नीतिपाठ गले अुतारनेका जो कार्य अुपदेश नहीं कर सकते वह कहानियाँ करती है, क्योंकि कहानियाँ मनुष्यका हृदयपरिवर्तन करती है। 'प्राणियों पर दया करो' कहनेकी अपेक्षा अैसी कहानियाँ, जिनसे प्राणियोंके प्रति प्रेम अुत्पन्न होगा या अुनकी हीन दशा देखकर दया अुत्पन्न होगी, कही जायँ तो अुनका असर अधिक होता है।

अिस बातका भान हमे कहानियों द्वारा ही होता है कि जीवनमे कितना आनन्द है। यह तो सभी जानते है कि नुक्ताचीनी या टीकाटिप्पणी करनेकी अपेक्षा प्रत्यक्ष कर दिखाना अधिक अच्छा होता

है। आजकी लोकस्थिति अच्छी न लगती हो तो अच्छा रहनसहन रखकर दिखाना अधिक श्रेष्ठ है। यह न हो सके तो हम जिस आदर्श स्थितिकी कल्पना करते हों वह प्रत्यक्ष अमलमें आयी अैसा है दिखानेवाली रसपूर्ण कहानियोंका निर्माण हम कर सकें तो भी समझना चाहिये कि आधा काम हो गया है। Looking Backward अिस तरहकी साम्यवादी कहानी है। अगर अपनी शक्तिके बल हम यह कहानी समाज को प्रत्यक्ष करा सके तो प्रत्यक्ष आचरण जितना असर समाज पर पड़ता है। कुछ लोगोंकी रायमें महाकवि वाल्मीकि का रामायण अिसी प्रकारकी कथा है। ब्रह्मदेवकी सृष्टिकी स्पर्द्धामें जिस तरह विश्वामित्रने अेक प्रतिसृष्टिका निर्माण किया था अुसी तरह कवि भी कहानियोंद्वारा प्रतिसृष्टि अुत्पन्न करते है और पाठकों-को वहाँ के नागरिक बनाते हैं।

कवि अपने राज मे अुसे अच्छे लगनेवाले धर्मसिद्धान्त चलाता है, अुसे पसन्द आनेवाला विधान तैयार करता है, क्या चाहना और क्या त्यागना अिसका निर्णय करता है, पाठकोंसे अुन सबका स्वेच्छासे स्वीकार करवाता है। अिसीलिये कहानी लिखनेवाला कवि ब्रह्मा है, मनु है, राजा है, समाजनेता है, मित्र है, साक़ी है।

हमारे यहाँ राजपुत्रोंको धार्मिक कथाओंद्वारा सारा ज्ञान दिया जाता था। समझमें नहीं आता कि अिस तरफ़ हमारे समाज नेताओंका ध्यान क्यों न गया कि प्रत्येक पुराण राजपुत्रों और सामान्य लोगों के लिये विशिष्ट मतके अनुसार चलनेवाली शिक्षाकी परिपूर्ण पाठ्य पुस्तक है। पंचतंत्रकी प्रतिज्ञानकी कहानी भी अैसी ही है। राजाके बुद्धू लड़के किसी तरह पढ़ते न थे। अुन्हें आर्य विष्णुशर्माने कहानियोंद्वारा छः महीनोंके अन्दर लिखा पढ़ाकर चतुर बना दिया। अुपनिषदोंमें भी बड़े बड़े ॠषि विश्व रहस्य खोलनेवाले महान् सिद्धान्त कथाओं द्वारा अपने शिष्योंके गले आ नीसे अुतारते।

ज भी अपने सम्पर्क में आनेवाले बालगोपालोंको कहानियो-द्वारा आनन्द और ज्ञान देनेके लिये 'माणभट्ट' अवतीर्ण हुआ है। दुनियाके सब देशोंके, सब कालोंके और सब प्रकारके शास्त्रमान्य, लोकमान्य, शिशुमान्य कथालेखक 'माणभट्ट' को आशीर्वाद दे दें।*

  

: : : लोकगीत (ग्रामगीत)

जहाँ धर्म है वहाँ दंभ भी है। दीयातले अंधेरा, आत्मातले अहंकार और धर्मतले दंभ—यह सनातन नियम है। बाह्य नियमनके साथ धोखेबाज़ी आ ही जाती है। अिस नियमके अनुसार समाजमें जैसे जैसे शिष्टमान्य नियम मनुष्यस्वभावको दबानेका प्रयत्न करते है वैसे वैसे लोगोंमे अेक प्रकट भाव और दूसरा गुप्त भाव अिस तरह की बेवफ़ा-दारी पैदा होती है।

आज शिष्टसमाज़ मे भाषाकी या आचार विचार की जो शुद्धता हम देखते हैं वह अगर सच्ची है तो यह मानने में कोअी हर्ज नहीं कि आजकल सत्ययुग है। जिस तरह हम पोशाकसे शरीर के अैब ढँक देते है अुस तरह शिष्टभाषा द्वारा हम अपने विचारोंकी मलिनता को ढँक लेते हैं। अमुक संप्रदायके लोग अमुक बात कर ही न सकें अैसा नियम करने के बाद अुस संप्रदाय में जो दंभ और ढोंग पैदा होता है अुसे देखकर नियम बनानेवालों पर हँसी आये बिना नहीं रहती। जहाँगीर बादशाहके बारे में कहा जाता है कि रातको जिन दोस्तोंके साथ वह छककर शराब पीता था वही दोस्त दूसरे दिन दरबार में शराबका नाम भी निकालते तो अुसे धर्मविरुद्ध बर्ताव मानकर वह

* साबरमती आश्रम में चलनेवाली हस्तलिखित पत्रिका 'माणभट्ट' के लिये लिखा हुआ लेख।

अुन्हें सख्त सज़ा देता। शिष्टाचार का यह झंझट मनुष्यस्वभाव हमेशाके लिये बर्दाश्त नहीं कर सकता। शिष्टाचारकी तानाशाहीसे छूटने के लिये ही क्लबों की स्थापना हुआ करती है। समाजसुधारक वर्ग ने आज समाज में ज्यादा नैतिक सुधार किये हो अैसा तो नहीं दिखाअी देता। अिसमें शक नही कि अुन्होंने शिष्टाचार में अेक तरह प्रोटेस्टंट सुधार किया है। मनुष्यस्वभाव जितने शिष्टाचारका बोझ अुठा सकता है अुससे अधिक शिष्टाचार अगर समाज में दाखिल हो जाय तो नैसर्गिक आनन्द और नैसर्गिक कला लुप्त होकर दंभ और छुपी विलासलोलुपता बढ़े बिना न रहेगी।

आद्यकवि अिस दंभके सबसे बड़े शत्रु थे। जिस तरह माँबाप को अपने छोटे बच्चों को नंगा करके नहला-धुलाने में कुछ भी अनुचित या विपरीत नहीं लगता अुसी तरह आद्यकवियोंको मनुष्य-स्वभावका वर्णन करनेमें कुछ भी संकोच नहीं होता। अिस बातका वर्णन अनेक ग्रंथकारोने भी किया है कि शिष्टमान्य साहित्यसे सड़े हुअे दिमाग़ को आद्य साहित्यका खुला पवन मिलनेपर कितना आनन्द होता है। साधु पुरुषोंमें शिष्ट और अश्लील जैसा कोअी भेद नहीं होता। यही स्थिति लोकगीतकी है। लोकगीतोंमें शिष्टाचार होता तो है मगर अुतना ही जितना कि समाजकी नसनसमें समा चुका हो। दंभसे दिखाया हुआ शिष्टाचार अुनमें नहीं होता। लोकगीतोंमें संयम होता है, लेकिन वह लोकस्वभावके साथ अेकरूप हुआ होता है। अीश्वरकी रची हुअी सामान्य सृष्टि अगर सुन्दर और कुशल हो तो यह मानना ही पड़ेगा कि लोकगीत भी सुन्दर और कुशल हैं। लोकगीतोंकी अेक ख़ूबी यह है कि आज तक अुनकी खास हिफाजत किसीने नहीं की है। बहुतसे लोकगीत प्राकृतिक मृत्युसे मर जाते हैं। डार्विन्‌का Survival of the fittest (क्षमस्यैव हि निस्तारः। जिसकी लाठी अुसकी भैंस) वाला सिद्धान्त सम्पूर्ण रूपसे अगर कहीं

चारितार्थ होता हो तो वह लोकगीतोपर ही। समाजमे अगर सच्ची नैतिक अुन्नति हो जाय तो नीतिबाह्य लोकगीत आप ही आप मर जायेगे। जिस तरह बहती हवामे मच्छड़ नहीं रह सकते अुसी तरह शुद्ध समाजमें अशुद्ध गीत टिक ही न सकेंगे। समाजमें गंदगीको बर्दाश्त करना और खराब लोकगीतोंका दोष निकालना यह है मानो सड़ी हुअी चीज़ खाकर डकारकी निंदा करना है। जिस तरह यह दिखाकर कि गंदगी कहाँ है, मक्खियाँ हमारी सेवाही करती हैं अुस तरह रूढ, खराब लोकगीत भी यह ठीक ठीक बता देते हैं कि जनसमाज का मानस कैसा है। अिसी कारण अितिहासकारों को लोकगीत महत्त्व के लगते है। ड्राअिडन की कवितासे अुस समय के अिंग्लैंड की स्थितिसे हम जितनी अच्छी तरह परिचय प्राप्त कर सकते है अुतनी अच्छी तरह वह अितिहासके पाठ्य पुस्तकोंसे नहीं मिल सकता। जितने मिले अुतने सब लोकगीतोंका संग्रह अिष्ट है; लेकिन कोअी यह नहीं कहता कि सब लोकगीतोका प्रचार करना चाहिये। सामाजिक सख्तीसे अैसे लोकगीतोंको निकाल देना संभव हो तो भी वह ख़ैरियत का रास्ता नहीं है, क्योंकि समाजदशा सूचित करनेवाले अिस ज्वरमापक यंत्र (थर्मामिटर) का नाश करनेसे सामाजिक बुख़ार अुतरनेवाला नही है। समाजका सुधार किया जाय तो फिर जिस तरह दीये के आ जानेसे अँधेरा आप ही आप भाग जाता है, अुस तरह ख़राब गीत आप ही आप लुप्त हो जायेंगे।

महाभारत और रामायण में लोकस्थितिका वर्णन निर्भयताके साथ किया गया है। फिर भी अैसा कोई कह ही नहीं सकता कि अुससे लोकनीति खराब हो गयी है। पुराणकालीन या वेदकालीन भारतवर्षमें जो नीतिमत्ता थी अुससे मानव-समाज अेक कदम भी आगे नहीं बढा है, अिस बात का विकासवादी वॉलेस महाशयने मुक्तकंठसे स्वीकार किया है। अैसे ग्रंथोमे शिष्टाशिष्टताका भेद नहीं होता। अिससे यह साबित

होता है कि निर्मल भावसे समाजस्थितिका वर्णन करनेसे समाज नहीं विगड़ता, बल्कि समाजस्थितिका यथार्थ भान होनेसे अुसमें सुधार करनेके अुत्साह और दृढनिश्चयकी ही शिक्षा मिलती है।

  

: : : हमारा लोकसाहित्य (जन साहित्य)

अमरीकाके किसी भी विख्यात पुरुष की जीवनी देखिये, अुसका प्रारंभ अिस तरहका दिखाअी देता है कि चरित्रनायकके माँ-बाप या पूर्वज अिंग्लैंड या स्काटलैंडमें रहते थे और वहाँसे वह अमरीका चले गये। अमरीकी अितिहासकी पूर्वपीठिका यूरपीय अितिहासमें खोजी जाती है। अमरीकी सामाजिक और राजनैतिक अितिहासका मूल यूरप के सामाजिक तथा राजनैतिक विधानमे से निकला हुआ वताया जाता है। यह सब वहाँ स्वाभाविक है, क्योंकि अमरीकी महाप्रजा यूरपसे वहाँ गयी है। हम अंग्रेज़ी पढ़लिखे लोग यहाँ जब किसी विषयपर लिखने बैठते हैं तब यूरपसे ही प्रारंभ करते हैं, मानो हमारी संस्कृति भी विलायतसे ही यहाँ आयी हो।

यह ढंग हर तरह से दुष्ट है और वह अस्वाभाविक शिक्षाका परिणाम है। अंग्रेजोंके यहाँ आनेसे पहले क्या हम जंगली दशामें थे? क्या हमारे समाजमें प्रत्येक अंगका प्राचीन कालसे विकास नहीं होता आया है?

लोकसाहित्यकी पूर्वपीठिका डेन्मार्क में खोजने की कोअी आवश्यकता नहीं। प्लेटो और अैरिस्टॉटलके वचनोंसे लोकशिक्षामें लोकसाहित्यका महत्व साबित करनेकी कोअी ज़रूरत नहीं। यूरप और हिन्दुस्तानमें लोकसाहित्यके प्रति लोगोंकी भावनाअें अलग अलग हैं। यूरपका

प्राचीन अितिहास बताता है कि आजकल जिसे यूरपीय संस्कृति कहते हैं वह असलमें ग्रीक और रोमन संस्कृति है जिसे वह Classical Culture (अभिजात संस्कृति) कहते हैं। यह ग्रीक और रोमन लोग अभिमानी थे। जो ग्रीक और लैटिन न हों वह सब 'बार्बेरियन' यानी जंगली समझे जाते। मध्य तथा अुत्तरी यूरपमें अिस क्लासिकल संस्कृतिका साम्राज्य फैल गया। और वहाँ के लोगोंने भी अुल्लिखित मतका स्वीकार करके अपने जंगलीपनको धो डालने के लिये क्लासिकल संस्कृतिका स्वीकार किया। यह स्थिति लगभग दो हजार सालसे चलती आयी है। शिक्षाके मानी 'क्लासिकल शिक्षा' ही होते थे। वर्तमान युगमें फ्रेंच, जर्मन, अिटालियन या अंग्रेज जातियोंने ज्ञान तथा विचार मे जो वृद्धि की है अुसकी बुनियाद भी क्लासिकल साहित्यमें ही है। नयी वस्तु तो सिर्फ भौतिक शास्त्र है।

अब अिन दो हज़ार सालोंके बाद, मध्य और अुत्तरी यूरपमें आत्मानात्मविवेक जागृत हुआ है; स्वाभिमान जागृत हुआ है। वहाँके लोगोंको अैसा लगता है कि 'हमारे बिलकुल पहले पूर्वज ग्रीक या लैटिन न थे, और जैसा कि ग्रीक या लैटिन लोग कहते, वह जंगली भी न थे। ग्रीक और लैटिन लोगोंका राज होने के पहले हमारे पूर्वजोंने सहजसुन्दर, काव्यमय तथा स्वाभाविक साहित्यका निर्माण किया था। दो हजार साल तक हमने अुसकी अुपेक्षा की, फिर भी अशिष्ट समझे जानेवाले लोगोमे वह टिका हुआ है-अर्थात् वह वीर्यवान है।' आज तक अुन्होंने अपने पूर्वजोंकी विरासतकी कद्र न की अिसका अुन्हें पश्चात्ताप हुआ और अबसे अपने वंशजोंमें स्कैण्डिनेवियन या नॉर्स संस्कृतिका ज्ञान और प्रेम पैदा करने के लिये शिक्षाके शुरूमे ही नॉर्स सगा (पौराणिक कथा) जैसे लोकसाहित्यका परिचय करानेका अुन्होंने निश्चय किया है। अिस तरह वहाँ लोकसाहित्यकी खोज और सेवा क्लासिकल संस्कृतिके

खिलाफ अेक तरहकी बग़ावत है। अिस प्रवृत्तिके मूलमें यह विचार दिखाअी देता है कि क्लासिकल संस्कृति परायी है, अपनी नहीं है, अुसका जुअॉठा फेंक देना चाहिये। क्लासिकल साहित्य classes (ख़ास लोगों) के लिये है न कि masses (आम लोगों) के लिये- अिस तरहका विचार वहाँ प्रचलित हो गया है। अिसका असर वहाँ की शिक्षापर भी हुआ है।

यह नहीं कि वहाँ क्लासिकल साहित्यका कोअी त्याग कर सके हों, फिर भी 'फोक-संस्कृति' या 'लोक-संस्कृति' प्रतिस्पर्धीके तौरपर पैदा हो गयी है। यही वृत्ति अमरीकी निग्रोंमें अुत्पन्न हुअी है। अमरीकी निग्रो लोगोंकी शिक्षा अमरीकी ढंगकी होती है, फिर भी अुसमें आफ्रिकन लोकसाहित्य, आफ्रिकन संगीत, आफ्रिकन नृत्य, आफ्रिकी मूर्ति आदि दाखिल करनेवाला अेक पक्ष पैदा हुआ है।

हमारे देशमें लोकसाहित्यकी स्थिति और प्रतिष्ठा और ही प्रकारकी है। हमारी जनता राजनीतिप्रधान नहीं है। यहाँ 'क्लासेस्' और 'मासेस्' यानी खास और आम जैसा प्रखर भेद न था। 'श्रेष्ठ' लोगोंने 'अितर जनों' के साहित्य की सांस्कृतिक अुपेक्षा नहीं की थी। आर्य संस्कृतिमें विद्वान् वर्ग लोकसंग्रह—जनसंग्रह—का महत्व जानता आया है। वेदोंमें आद्य ऋषियोंने सूक्ष्म आध्यात्मिक सिद्धान्तोंको मंत्रबद्ध करने के लिये लोककथाओंका अुपयोग किया है। पुराणोंमें भी अैसा ही हुआ है। वास्तवमें हमारे पुराण तो जनशिक्षाकी पाठ्यपुस्तकें ही हैं। समस्त जनताको जितने विषयोंकी शिक्षा देनेकी ज़रूरत समझी जाती वह सबके सब विषय अेक अेक पुराणमें आये हैं। सूक्ष्म दृष्टिसे देखनेपर मालूम होता है कि पुराणोंकी रचनाशैली भी शिक्षाशास्त्रके सिद्धान्तोंका अनुसरण करनेवाली है। संगीतमें भी रामायणकालसे शास्त्रीय-वैज्ञानिक-संगीत और लौकिक संगीत दोनों की अेक-सी ही प्रतिष्ठा

थी। वाल्मीकिने लव और कुशको मार्गी संगीतकी तरह देशी संगीतमें भी प्रवीण किया था। बौद्ध धर्म मे जातककथाओंका स्थान बहुत ऊँचा है। जातककथा तो निस्संदेह लोकसाहित्य ही है। धार्मिक ग्रंथोंमे जो लोकसाहित्य ग्रथित न हो सका वह कथासरित्सागर, पंच-तंत्र, हितोपदेश आदि ग्रंथोंमे ग्रंथित किया गया है। हमारे साधुसन्तोंने भी लोककथाओं और लोकसाहित्यका अच्छा अुपयोग किया है और नये लोकसाहित्यका निर्माण भी किया है। बेतालपच्चीसी, सिंहासन बत्तीसी शुकबहत्तरी आदि ग्रंथ तो समाज की अधम और पतित दशाके कालका लोकसाहित्य है। भोज और कालिदास की कथाअे, बादशाह और बीरबलकी कहानियाँ आदि संग्रहोंसे लेकर अिस लोकसाहित्यकी परंपरा वर्तमानकालतक आ पहुँची है। हिन्दुस्तानमे लोकसाहित्यका महत्व जनतासे कभी अज्ञात न था और अिसीलिये वेदकालसे यह परपरा अबाधित रही है। यहाँ शिक्षणक्रममे लोकसाहित्यका पहलेसे ही स्थान रहा है। आजकलके बड़े बड़े विद्वान् मानते है कि मनुष्य जातिका विकास जिस क्रमसे हुआ हो अुसी क्रमसे शिक्षा देनी चाहिये। विषय पढ़ानेका क्रम भी स्वाभाविक ही होना चाहिये। यानी जो शास्त्र सबसे पहले पैदा हुआ हो अुसे प्रथम सिखाना, जिस शास्त्रका विकास बादमे हुआ हो अुसे बादमे पढ़ाना और प्रत्येक शास्त्रमे भी जिन सीढ़ियोंसे अुस शास्त्रकी अुन्नति हुअी हो अुसी क्रमसे वह शास्त्र पढ़ाना चाहिये। हम अूपर कह गये है कि हमारे पुराण अिसी क्रमके अनुसार चलते है। हमारी शिक्षा जबसे अंग्रेजोंके हाथोंमे गयी तभीसे अूपरकी परंपरा खंडित हुअी है।

अब हमे यह पचास–पचहत्तर बरसकी भूल सुधारनी चाहिये। अिन पचास-साठ बरसोंमे शिक्षित और अशिक्षित के नये भेद पड़े है। अमीरों और गरीबोंका मिलना जुलना अिन पचास सालोंमे ही बंद हो गया है। शिक्षित लोगोंने गाँवोंकी छुआछूत मानी है, अिसलिये

लोकसाहित्य हमसे अलग हुआ है। हमारे व्रतों और अुत्सवोंमे जो लोककथाअें और लोककलाअें हैं अुन्हे भी धर्मसंशोधन-सुधारके गलत खयालसे हम मरने देते है। आज अगर हम न चेतें तो बहुतसा साहित्य, बहुतसी रसिकता हमारी आँखोंके सामने ही नष्ट हो जायगी। अिसका अुपाय यह नहीं है कि पुराने साहित्यको विस्मरणके विनाशसे बचाकर किताबोंके अन्दर गाड़ दिया जाय। सामाजिक जीवनमे अुसे जिन्दा करना चाहिये। शिक्षामें अुसे प्रतिष्ठाका पद मिलना चाहिये। तभी जाकर हमारा लोकसाहित्य टिकेगा, फूलेगा, फलेगा और लोकजीवन संस्कारी अेवं समृद्ध होगा।

  

: : लोकसाहित्यकी मीमांसा

मनुष्य के अध्ययनका अगर कोअी सबसे श्रेष्ठ विषय है तो वह मनुष्य ही है। सब शास्त्र, सारी कलाअे, अितिहास और विज्ञान, समाजशास्त्र और धर्मशास्त्र सब कुछ मनुष्यके लिये ही है। अिसी लिये संस्कारी शिक्षामे अितिहास का महत्त्व माना गया है, अिसीलिये धर्मशास्त्रकी अितनी महत्ता मानी गयी है और अिसीलिये अनेक मनुष्योंको दूसरे लोगोंके विषयमे ज्ञान प्राप्त करनेमे मज़ा आता है। या अैसा कहा जा सकता है कि दुनियामे जो जो शास्त्र या विषय अुत्पन्न हुअे है वह सब मनुष्यकी मनुष्यके सम्बन्धमे या परिस्थितिके विषयमे जो कुछ जिज्ञासा होती है अुसे तृप्त करनेके लिये हुअे है। मनुष्यमे सामाजिक जीवनकी जो स्पृहा रहती है अुसके कारण ही अेक आदमी दूसरे आदमीके बारेमें कुछ न कुछ जानना चाहता है; अितना ही नहीं बल्कि जो आदमी समाजके विविध व्यक्तियोंका स्वभाव,

अुनकी भावनाअे अुनकी आकांक्षाअे और अभिरुचि जितना अधिक जानता है अुतना वह अुन व्यक्तियोपर अधिक स्वामित्व प्राप्त करता है और दूसरे अनेक लोगोंको अपनी अिच्छाके अनुसार चलाता है। अिसीलिये पुराने ज़माने मे चतुर राजनैतिक पुरुप अपने बच्चोको अितिहास पढ़ाते और अुनसे लोकस्वभावका निरीक्षण करवाते।

प्राचीन समयमे राजपुत्रको पुरानी कहानियाँ सुनानेके लिये विद्वान् शास्त्री-पंडित नियुक्त किये जाते थे। प्रत्येक राजपुत्रको दरबार के भाटचारणोसे अुसका वंश, पूर्वजोंका पराक्रम और अुसके देशके लोगोंका खास स्वभाव जाननेका मौका दिया जाता। यह दुनिया कैसे पैदा हुअी, अिसका नियन्ता कौन है, अिसका प्रबन्ध कैसे चलता है, समाजव्यवस्था ठीक रहने के लिये प्रत्येक मनुष्यको क्या क्या करना चाहिये आदि बातोका तफ़सीलवार ज्ञान अुन्हे ब्राह्मणोंसे मिलता और दरबारके चापलूस विदूषकोसे ठग लोगोंकी युक्तियाँ, स्त्रियोंका स्वभाव, चतुर वार्तालाप आदि सब बातोंकी जानकारी मिल जाती। किसी राजा के चार पांच लड़के अितने मन्दबुद्धि थे कि लोककथाओंमें भी अुन्हे कोअी मज़ा न आता था। यह हालत देखकर विष्णुगुप्त नामक महापंडित ने सियार, भेड़िया, बैल और कौवे जैसे पशुपक्षियोकी बालकथाओ द्वारा अुन्हे राजकाजका जटिल तत्त्वज्ञान सिखाया था —अिस तरहका वर्णन अेक पुराने ग्रंथमें है।

कहानी सुननेका शौक़ दुनियाके प्रत्येक देशमे और हर ज़मानेमे अखंड जागृत रहा है। बच्चे बचपनके अुत्साहके कारण, युवक यौवन-सहज रसिकताके कारण और बूढ़े निवृत्तिका समय आनन्दसे बितानेके हेतु कहानी सुनते है। मनुष्यस्वभावके अिस अंगका परीक्षण करके दुनियाके गुरुओने कहानीका अुपजीवन किया और अपना अुपदेश संसारके सामने रखा। जिस तरह अेक तरफ़ जिज्ञासा मनुष्यका

स्वभाव है अुस तरह दूसरी तरफ़ अपनी शक्ति के अनुसार जीवनकी प्रत्येक कठिनाअीका कुछ न कुछ निराकरण करनेका आग्रह मनुष्य-स्वभावमे रहता है। अिसीलिये प्राकृतिक घटनाअें, चमत्कार, सितारोंकी गति, जन्ममरण तथा प्रजोत्पत्तिका रहस्य आदि विषयोंकी कुछ न कुछ अुपपत्ति प्रत्येक देशके सुधरे हुअे अेवं जंगली लोगोंने अपनी अपनी दृष्टिसे लगायी है।

अिस मार्गसे मानवी हृदयको आश्वासन मिलता है, कल्पना शक्तिको अवकाश मिलता है और काव्यशक्तिको पोषण मिलता है। आजकल कवि मनोविनोदके लिये भ्रम अुत्पन्न करता है और अुससे लुत्फ़ अुठाता है। आजकल यह कल्पना प्रचलित हो गयी है कि काव्यमें तो असत्य सृष्टि ही हो। मानवजातिके बाल्यकालमें अैसा न था। संस्कृत भाषामे तथा वेदों में कवि यानी रहस्य जाननेवाला, कवि यानी मंत्रद्रष्टा, कवि यानी अिंद्रियोंके लिये अगोचर वस्तुओंका रहस्य खोलनेवाला समझा जाता था। और अिसीलिये कवि समाजका नेता था। समाजनेताको समाजका मार्गदर्शन करानेकी कला आनी चाहिये। हमारे प्राचीन नेता लोकशिक्षाका प्रधान सिद्धान्त अच्छी तरह जानते थे। स्थूलमेंसे सूक्ष्म, ज्ञातमेंसे अज्ञात, निकटमेंसे दूर, प्रकटमेंसे गूढ़, अंदरमेंसे बाहर, स्वकीयमेंसे परकीय—अिस शिक्षाके सूत्र को अुन्होंने कभीका पहचाना था। और अिसीलिये समाजशिक्षामें प्राचीन विचार, प्राचीन कल्पनाअें, लोकरूढ़ रूपक और प्राचीन अितिहास लेकर अुसके द्वारा वह प्रत्येक नयी चीज़ समाजमें दाखिल करते।

ध्यानस्थ बैठकर विश्वमें रममाण होनेवाले, चित्तशक्तिके साथ अेकरूप होनेवाले अृषि बिना भाषाके, बिना वाणीके, और बिना मनकी मध्यस्थीके भी अिस दुनिया का रहस्य जान सके। लेकिन समाजको वह ज्ञान वह कैसे दें? जिस चीज़का अनुभव लोगोंको नही है,

जिसके साथ तुलना करने जैसा दुन्यवी तजुर्बा नही मिल सकता, वह चीज समाजके सामने वह कैसे रखे ?

हमारे प्राचीन ऋषि चित्रकार थे। चाहे जिस गूढ सिद्धान्तका शब्द-चित्र वह अपनी अमोघ शक्ति से खड़ा कर सकते थे। अुन्होंने अपने जमानेमे भी अत्यन्त प्राचीन मानी जानेवाली लोककथाअें हाथमें ले ली, अुनमें आवश्यक हेरफेर किये और अुनमेंसे जो तत्त्व प्रस्फुरित हुअे अुनका शब्दचित्र लोगोंके सामने पेश किया। आम लोगोंको अुसमें कहानीका मजा आता और ध्यानपरायण जिज्ञासुओको अुसमेंसे परम रहस्य मिल जाता।

ऋषियोका मानो यह स्वभाव ही था कि कोअी भी चीज सीधे ढंगसे कहनी ही न चाहिये। अिसीलिये वह कहते हैं : परोक्षप्रिया अिव ही देवा : प्रत्यक्षद्विषः। यह प्रथा अुसी तरह आगे चलती रही। ऋषियोने परम गूढ ज्ञान लोककथाओमे भर दिया। ज्योतिर्विदोंने अपने शास्त्रको लोककथाओंमें बाँध दिया। समाजशास्त्रकारोंने अपने व्यापक सिद्धान्तों और नियमोंका समर्थन लोककथाओं द्वारा किया। अितना ही नही बल्कि निरुक्तकारोने भी कहानीका ही आश्रय लिया। पुराणकारोने वफादारीसे यही प्रथा आगे चलायी। धार्मिक तत्त्वो और सामाजिक अनुशासनोंको लोकप्रिय बनानेके लिये अुन्होंने प्रचलित अितिहासो और लोककथाओको अपनाया। लोकहृदयके साथ अेकतान होनेवाले पुराणकारोने यह मान लिया कि लोककथा या अितिहासमे चाहे जैसा हेरफेर करनेका अधिकार अुन्हे है। और कहानियोंके प्रवाहको अिस तरह मोड़ दिया कि जिससे वह अुन धार्मिक तत्त्वो के अनुकूल हो, जिनका अुन्हे प्रचार करना था। अिससे हम अुनपर असत्यवादित्वका अिलजाम तो हरगिज नही लगा सकते। वह साफ़ कहते है कि हम जो कुछ कहते है वह अर्थवाद होता है और अिसी-

लिये वाल्मीकि-रामायण, अध्यात्म-रामायण, आनन्दरामायण, अद्भुत-रामायण, भावार्थरामायण या तुलसीरामायण मे अेक ही राम और सीताकी कहानी का अनेक अनेक प्रकारसे वर्णन किया गया है।

यूरपमें प्रतिष्ठित और सामान्य लोगोके वीच जितना अन्तर था अुतना अन्तर हमारे यहाँ न था। —१९२०

  

: : : जीवनविकासी संगठन

आजकलका कोअी भी मनुष्य लीजिये, अुसे स्वाभाविक रूपसे ही अंदरसे अैसा लगता है कि हम अव किसी नये जमानेका, नये युगका, नये जीवनक्रमका प्रारंभ कर रहे है। हम भले ही अैसा कहते आये हो कि भारतवर्ष अेक है, और हमारी सांस्कृतिक अेकता मुख्य मुख्य वातोंमें स्पष्ट रूपसे भले ही दिखाअी देती हो, फिर भी हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि आजतक हम छोटे वड़े गिरोहोंमें ही रहते आये है। 'विविधतामें अेकता' हमारी संस्कृतिकी खासियत है। लेकिन हमने तो विविधताको अनेकधा फैलने दिया और अेकता लाना लगभग भूल ही गये। अिसलिये समाजमें बल के होते हुअे भी हम कमजोर साबित हुअे। हम सबका रहनसहन तथा विचारप्रणाली अेक-सी होते हुअे भी हम छिन्न भिन्न हो गये।

मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य अिह नानेव पश्यति।

हमारे पितरोके पिता यमराजने कभी का कह दिया है कि जो व्यक्ति अपने जीवनमें केवल विविधताके ही पीछे पड़ता है वह जीवनके अेक के वाद अेक क्षेत्रमे मृत्यु के, क्षयके शिकंजेमे फँस जाता है। भगवान श्रीकृष्णने गीतामें भी कहा है कि 'जो ज्ञान भेदभावको

पोषण देता है और विविधताको ही पहचानता है वह समाजकी प्रगतिको रोख रखता है।' फिर कुछ लोग तो वस्तुओंका तारतम्य न जानकर क्षुद्र अेकांगी वस्तुओंको ही सर्वस्व मानकर अनाड़ीपन नासमझदारी करने लगते हैं। अैसे लोग समाजको अधिकाधिक नीचे ले जाते है। जो लोग अेक ही प्रान्तको सारा देश समझते हैं, संस्कृतिके किसी अेक अंगको ही जीवनसर्वस्व मानने लगते हैं, वह अपनी शक्तिका अुचित अुपयोग नही कर सकते। किसी गाड़ीके सभी हिस्से-पुरजे साबुत है; लेकिन अगर वह अपनी अपनी जगहोंसे खिसक गये हो या ढीले पड़ गये हों तो वह गाड़ी भला कैसे यात्रा कर सकेगी?

अेक ज़माना था जब वेदोपासना, संस्कृतविद्या, भक्तिमार्ग, विरक्ति आदि महान् तत्त्वोंके बलपर हम सांस्कृतिक अेकता प्रस्थापित कर सके। लेकिन जैसे जैसे युगोत्कर्ष होता जाता है वैसे वैसे यह आवश्यक प्रतीत होता है कि समन्वयकारी तत्त्व अधिकाधिक व्यापक बने। परशुरामके समय ब्राह्मणसंगठन या क्षत्रियसंगठन स्वाभाविक होगा; वेदकालमे आर्यसंगठन महत्त्वका हो गया होगा; छत्रपति शिवाजी महाराज या राणा प्रतापके समय मे हिन्दुसंगठन अनिवार्य हुआ होगा; लेकिन आज तो अिसमे कोअी शक नही कि भारतीय संगठन ही अेकमात्र युगधर्म है।

अिस तरहका संगठन अलग अलग क्षेत्रोंमें कबका शुरू हो चुका है। अखिल भारतीय संस्थाअें तथा प्रवृत्तियाँ देशमे स्थानस्थानपर दिखाअी देती है। शिक्षा और साहित्यके बारेमे तो प्रत्येक प्रान्त अेकाकी बन कर सिर्फ अपना ही विचार करता आया है। वर्तमान संस्कृतिके ब्राह्मण अर्थात् अंग्रेज लोग और अुनकी सत्ता के द्वारा—बाह्य कारणों के परिणामस्वरूप जो अेकता हम सबपर लाद दी गयी है अुसके बारेमे यह हरगिज़ नहीं कहा जा सकता कि वह कोअी प्राणदायी तत्त्व है।

प्रान्तोंके लिहाज़से शिक्षाका अलग अलग प्रबन्ध हुआ; सरकारी विद्यापीठोंकी स्थापना हुआी। अिन युनिवर्सिटियों ने अंतर्देशीय तथा प्रान्तीय जीवन और संस्कृतिको कितना प्राधान्य दिया है यह तो हम देखते ही है। अब आखिल भारतकी शिक्षाको अेक तंत्रके नीचे लानेका सरकारका प्रयत्न चल रहा है। अिसमें सरकारको कामयाबी मिल जाय तो भी अुससे समाजहृदय अेक होगा या नहीं अिसमें शक है।

अगर अैसा कहा जाय कि साहित्यके बारेमे हमारे यहाँ संगठन जैसा कुछ नहीं है, तो अुसमे कोअी ग़लती न होगी। साहित्यको अेक ही रस्सीसे बाँधना या नाथना आसान नही। साहित्यका मुँह बंद करना सहल होता है लेकिन प्रौढ साहित्य नकेल का नाम तक बर्दाश्त नहीं कर सकता। किसी भी क्षेत्रकी बाल्यावस्थामें ही अुसके अूपर पराया अंकुश टिक सकता है।

साहित्यमें कितनी शक्ति है अिसकी अधिकाधिक प्रतीति मनुष्य जाति को होती जा रही है। साहित्य अेक प्रकारका चैतन्य है; सामाजिक तेज है, मनुष्यसंकल्पकी अमोघ शक्ति है। अिस शक्तिकी सहायतासे मनुष्य चाहे जो भलाबुरा परिणाम निश्चित रूपसे ला सकता है। लेकिन यह दोधारी तलवार है। यह अेक रसायन होनेके कारण जो कोअी अिसे हज़म करेगा अुसे यह अजरामर बनायेगा; लेकिन अगर अिसका दुरुपयोग किया जाय तो यह समूल अुच्छेद किये बना न रहेगा। अेक समय था जब लोग साहित्यका अुपयोग मोक्षसाधनके लिये करते थे। आगे चलकर सत्ताधारी और पैसेवाले लोगोंके मनोविनोदके लिये साहित्यका अुपयोग होने लगा। अिस ज़मानेके सम्बन्धमें देसनिकाले की सज़ा पाये हुअे अेक जर्मन यहूदी लेखकने कहा है:—

"यह समय साहित्यकलाके लिये या साहित्यकारोंके लिये बड़ा कठिन था। समाजमें यह विचार दृढ़ हो गया था कि साहित्यकार

के मानी हैं घरमे पालने योग्य अेक गुणीजन। प्रत्यक्ष जीवनके साथ अुसका कोअी सम्बन्ध न रहता था। साहित्यकार क्रुद्ध हो या सन्तुष्ट, दोनो बातें अेकसी थीं। अुसके हथियार हवामें किये गये फेर या घुमाये हुअे पट्टेकी तरह थे। साहित्य विनोदका अेक अुत्कृष्ट साधन समझा जाता था। अिससे अधिक प्रतिष्ठा अुसकी न थी।"

और साहित्यकार भी अेक बात भूल गये कि सिर्फ शब्दकौशल्य या कल्पनावैभव अुनके धंधेके लिये काफी नहीं है, अुसके लिये चारित्र्यकी भी आवश्यकता है। साहित्यकलाधर यह भूल गया कि अुस अुस समय लोगोंकी जो अभिरुचि रूढ़ हो गयी हो अुनका पोषण या अुसकी खिदमत करना अुसका धर्म नहीं, बल्कि सत्य, न्याय, प्रसन्नता, सौन्दर्य, स्वातंत्र्य, मानवी मन और चैतन्य अिन सनातन और सार्वभौम जीवनतत्त्वोंकी अनन्य निष्ठासे अुपासना करना अुसका धर्म है। स्वधर्मकर्म का भान भूल जानेके कारण वह सत्ताधारियोंके आश्रित परिवारमे गिना जाने लगा और जीवनके कठोर सत्य तथा वास्तविक परिस्थितिको भुला देना ही अुसका अेकमात्र कार्य बन गया। अिसी हेतु जनरंजन करनेवाले अनेक वर्गोंमेंसे वह अेक बन गया। अिस दुनियाके अत्यल्प मानवी जीवन-पथपर प्रकाश डालनेका कार्य छोड़कर वह अिस बातकी चिन्ता करने लगा कि समय किस तरह विताया जाय। कलाको लोग Pastime, (या जैसा कि मद्रास की तरफ कहते है,) कालक्षेपम् समझने लगे।

अिसके परिणामस्वरूप यह धारणा फैल गयी कि पंडित-आश्रय के विना शोभा नहीं देता। और अिस तरह वह वनिता और लता की श्रेणीमें जा बैठा। जो लोग खा-पीकर आरामसे रहते हैं अुनके पास अैशो अिशारतके लिये विपुल समय रहता है। अैसे लोगों का दिल अूब न जाय अिसलिये क्या क्या किया जा सकता है अिस बातकी फिक्र

करनेका काम ही अिन कलाधरोंके लिये रह गया। मानवी जीवनका बोझ अुठाकर जो बेचारे केवल भारवाही ही बने है अैसे पामरोको साहित्यका आस्वाद लेने जितनी फुरसत मिले भी कहाँसे ? और जब कामका ही अकाल पड़ जानेकी वजहसे अैसे लोगोंको फुरसत का वक्त मिलता है तब रोटीकी तीव्र चिन्ताके सामने साहित्य सूझे भी कहाँसे ? भूखा आदमी व्याकरणसे पेट नहीं भर सकता, या प्यासा मनुष्य काव्यरससे अपनी प्यास नही बुझा सकता। सारांश, साहित्य का निर्माण तो हो गया मगर वह कृतार्थ न हुआ।

अैसे समय जिन वर्गोंने साहित्यको आश्रय प्रदान किया अुनकी मनोवृत्ति अुसमे प्रतिबिंबित हुअे बिना कैसे रह सकती है ? समाजके भीषण जीवनकलहके स्वरूपको बिलकुल बदल डालकर अुसे नसीबका रूप दे दिया गया। प्रचंड धार्मिक और सामाजिक विग्रहोको विदूषक जैसा हास्यास्पद भेरू चढ़ाकर अुन्हें नाटकोंमें अुपाख्यानों का स्थान दिया गया और मानवी रागद्वेषके अदम्य प्रवाहको बिलकुल क्षुद्र बनाकर किस स्त्रीने किसके साथ अभिसार किया और किसे ताली दी—अिसीके वर्णन साहित्यमें सर्वत्र दिखाअी देने लगे। सभी दग़ाबाज़ ! नाटककार, अभिनेता, अुनके शिक्षक और प्रेक्षक भी— सभी जालिम या जुल्मके शिकार हुअे थे।"

अिस गढ़ेमेंसे साहित्यको अूपर निकालनेके लिये जनताके कुछ सेवाधुरीण अुपासक प्रयत्न कर रहे है। अैसे लोकसेवक साहित्य का आन्तरप्रान्तीय संगठन करना ही हमारा मुख्य अुद्देश्य है। परायी संस्कृतिकी अेक के बाद अेक बाढ़ आ जाने के कारण हमारे लोग अगर परेशान हो गये हों तो अुसमें कोअी आश्चर्य नही। लेकिन हर नयी बाढ़ अपने पानी के साथ जो पौष्टिक मिट्टी लाती है वही चैतन्यके अंकुरके लिये सबसे अच्छा खाद बनता है। और फिर

जीवनांकुर निकल आनेके बाद ही पूरी सत्रह आना फसल आ जाती है।

हमें लगता है कि हमारे देशके अितिहासमें अैसा समय अब आया है।

जब ज़मीन तैयार हुआी हो तब जो निर्भय हो कर बीज नहीं बोता और दिलमें यह डर रखता है कि आजतक प्राणपणसे सँभालकर रखे हुअे बीज ज़मीनमें बो दे तो वह कीचड़में पड़कर सड़ जायेंगे और अिसलिये पुरानी पूँजीकी रक्षा करनेमें ही बड़ा पुरुषार्थ है वह आस्तिकताकी भाषामें क्यों न बोलता हो, वह वास्तवमें नास्तिक है, जीवनद्रोही है। मुर्देको सँभालकर चैतन्यकी अुपासनाका द्रोह करनेवाला है। वह मुँहसे भले ही धर्मकी जय बोलता हो, लेकिन हाथसे काम तो अैसा करेगा जिससे धर्मका अचूक क्षय हो जाय। अब तो हमें धर्मके रक्षक नहीं बनना है, किन्तु धर्मसे रक्षण प्राप्त करना है। बेशक, यह धर्म पुरानी, सड़ीगली, या खोखली रूढ़ि का नहीं बल्कि चैतन्यका सनातन धर्म होगा।

यह धर्म लेनदेन करते कभी न हिचकिचायेगा। जीने के मानी ही है लेनदेन करना। जो देता और लेता है अुसपर वह जीवनदेवता प्रसन्न होता है। ददाति प्रतिगृह्णाति नान्यथैषा प्रसीदति। लेकिन देनेके मानी गुलामोंकी तरह चुंगी कर, या जुर्मानेके तौरपर देना नहीं है, और लेनेके मानी भी फेंके हुअे टुकडे भिखारीकी तरह अुठाना नहीं हैं। दुनियामें समानभावसे सबके साथ बराबरीके व्यक्ति की तरह रहनेकी कला आनी चाहिये। यह साम्ययोग साधनेके लिये ही आपसी सहकारकी कला हस्तगत करनेकी आवश्यकता है। हमारे देश में प्रत्येक प्रान्तकी कुछ न कुछ खासियत होती ही है। प्रान्तीय भेद स्पष्ट दिखाअी देते हैं, लेकिन संस्कृति तो प्रान्तोंके अनुसार अलग

अलग नहीं हुआ करती। संगीतके किसी समृद्ध और संपूर्ण रागमें जिस तरह आरोही और अवरोही स्वरोंमे भिन्नता होती है अुसी तरह की भिन्नता हमारे विविध प्रान्तों तथा अुनके अलग अलग वर्गोंमे है।

जिस समय राष्ट्रका आत्मविश्वास बिलकुल अुड़ गया था, अुसमें किसी तरहकी हिम्मत नहीं बची थी अुस समय कुछ लोग विदेशियोंका केवल अनुकरण करनेका अुपदेश देने लगे और कुछ अुनका विरोध करके कहने लगे कि पुराने मुर्दोंको मसाले में ढँककर, अुनकी ममी बनाकर अुसकी पूजा करनी चाहिये। हमारे यहाँ यह झगड़ा बरसोंतक चला। लेकिन बादमे सच्ची जागृतिका अुदय होते ही पुरानी पूँजीपर जीनेकी या डिब्बेमें पैक होकर मिलनेवाली विदेशी खूराकपर गुजारा चलानेकी बिलकुल आवश्यकता नहीं रही। अपनी ज़मीन को घरका तथा बाहरका खाद देकर नयी फ़सल तैयार करना ज़रूरी है यह बात अक्लमंद लोगोंके मनमें बैठ गयी। कष्टपूर्वक ज़मीनको जोतकर ताज़ी फ़सल लेनेसे ही राष्ट्रजीवनके लिये आवश्यक सभी विटैमिन्स (जीवनसत्त्व) मिल सकते है अितनी सादी बात भी हमारे गले अुतरते दो पीढ़ियाँ राह देखनी पड़ी। और अिसीलिये आन्तरप्रान्तीय संगठन की ज़रूरत हमें आजतक न महसूस हुअी। स्वावलंबनका प्रयत्न करते समय आपसी सरकारकी जरूरत मालूम होने लगती है। परावलंबन में केवल नाथ-निष्ठा पूरी तरह हो तो काफ़ी है। अब, जब कि हम निजी अनुभवका महत्त्व समझकर पराक्रम या पुरुषार्थ करने लगे हैं अुस समय, अेकदूसरे की सलाह लेनेकी जरूरत हम महसूस करने लगे है।

मनुष्य प्रयोगवीर न हों, अनुभवपरायण न हों तो 'कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्' अिस तरहकी पूर्वानुसारी वृत्तिके वह आदी बन जाते है। अुस जमाने में हमने बाहरके गुरु बहुतसे किये लेकिन आत्म-गुरुकी शोध नहीं की।

राजनीतिमें पहले पहल सन १८५७ ओसवीमें हमने पुराने ढंगसे अेक सीधी सादी बग़ावत कर देखी। अुसके बाद राज्यकर्त्ताओंका अितिहास पढ़कर अुन्हींका अनुकरण शुरू किया। पहिले हम आशा करते थे कि लिबरल पक्षके लोग अच्छे हैं। अुन्हींके हाथों हमारा कल्याण होनेवाला है। हमें जब अनुभव हुआ कि यह आशा दुराशा है, तब हमने मज़दूर-पक्षका दामन पकड़ा। अुसी जमानेमें फ्रान्स, अिटली, अमरीका आदि देशोंका अितिहास पढ़कर अुससे प्रेरणा पानेकी हमने कोशिश की। अितनेमें रशियाकी प्रगतिसे सारी दुनिया चकाचौंध हो गयी और हमें मालूम हुआ कि अुस देशमें जो क्रान्ति हुआी वह अितिहाससिद्ध शास्त्रकी मज़बूत बुनियादपर खड़ी हुआी है।

गुरुमंत्र चाहे जिससे लिया जाय, लेकिन अगर वह आत्मसात् न किया जा सके तो अुससे सामर्थ्य प्राप्ति नहीं हो सकती। साहित्य के बारेमें भी अनुकरण तथा अुधार लेने की कुछ मर्यादा होती है। किसी ग्रंथका स्वभाषामें अनुवाद किया जाय और अगर लोग अुसे न समझ सकें तो अुससे क्या फ़ायदा? और समझमे आये तो भी अगर सहानुभूति न पैदा हो, वह किसीको आकर्षक न लगे, तो अुसे व्यर्थ ही समझना चाहिये। फर्ज़ कीजिये कि वह आकर्षक भी बन गया लेकिन अगर वह लोगोंके मानसमें प्रवेश न करे, विचारप्रणाली पर असर न करे, लोगोंके जीवनमें या अुनकी निजी भाषामे न अुतरे तो अुसे निष्फल ही समझना चाहिये। साहित्य की शक्ति अद्भुत है, लेकिन वह रसायन जैसी है। केवल साहित्यपठनसे या दूसरों से आदर्श और अनुभव अुधार लेनेसे ज्यादा से ज्यादा साहित्यक्षेत्र समृद्ध हो जायगा, लेकिन अुसमें से जीवन साफल्य शायदही निष्पन्न होगा।

जब जीवन समृद्ध, व्यापक और गंभीर होगा तभी अूपरके गुण साहित्यमें अुतरेंगे। शोधखोज, पराक्रम, प्रवास, व्यापार, हुनर, कला-

कौशल, निरीक्षण, परीक्षण, नवनिर्मिति आदि बातोंमें जब समाज मोर्चेपर होता है, जब अुसकी महत्त्वाकांक्षा अुत्तुंग हो जाती है और कर्तव्यबुद्धि भेदक होती है तभी साहित्य जोरदार बनता है।

अिस तरहका पोषण साहित्यको अब मिलने लगा है और अिसी लिये साहित्यका आन्तर-प्रान्तीय संगठन करनेकी जरूरत आज महसूस हो रही है। अुसके लिये अुत्साह भी दिखाअी देने लगा है। वैसे देखा जाय तो यह कल्पना पचीस-तीस सालकी पुरानी है। लेकिन अगर अैसा कहा जाय कि साहित्यसंगठन करनेकी आवश्यकता अुस समय पैदा नहीं हुअी थी, तो वह गलत न होगा।

जीवनको भुलाकर, जीवनसे द्रोह करके केवल साहित्यका पोषण हमें नहीं करना है। जीवनके लिये साहित्य है। जीवनमेंसे साहित्यका अुद्गम है और साहित्यका फल भी संस्कारी तथा समर्थ जीवन ही है। विविधतामेंसे अैक्य प्रस्थापित करनेका हमारा जो जीवनमंत्र है अुसे साहित्यमें भी स्पष्ट तथा पूर्ण रूपसे व्यक्त करना है। और अिस-लिये सर्वसमन्वय ही हमारा ध्यानमंत्र है।

कुछ लोगोंको अैसा लगता है कि अनेक चीजोंकी खि चडी बनानेसे समन्वय हो जाता है, जब कि दूसरे कुछ लोगोंका खयाल है कि किसी अेक विशेष वस्तुका स्वीकार करके अुसका विस्तार करना और बाकी की वस्तुओंको तिलांजलि देना ही अेकताका अेकमात्र साधन है। लेकिन यह दोनों दृष्टियाँ भूलभरी है। बिना विविधताके अैक्यमें कुछ अर्थ ही नहीं। विविध घटकोंका अुनका अपना स्वत्व अुचित मात्रामे न रखा जाय तो फिर समन्वय ही किसका करें? यह सही है कि स्वत्व र । और समन्वय अेक दूसरेके विरोधी तत्त्व मालूम होते हैं; वह आसानीसे अेकदूसरेमें नहीं मिलते; लेकिन समाजको योग्य साधना करके यह समन्वयशक्ति अपनानी होती है। कअी भूलें होंगी, कअी

पीढ़ियोंका बलिदान देना पडेगा; लेकिन स्वत्त्वरक्षा और समन्वय दोनोकी अेकसाथ अुपासना हो जाय तो अुसमेसे जीवनके दिव्य स्फुलिंग निकले बिना कभी नहीं रह सकते। अिसीका दूसरा नाम है जीवन-रसायन।

सिर्फ़ खिचड़ी बनानेसे कभी कभी अनिष्ट चीज़ ही पैदा होती है। बाज़ारमे सभी वस्तुअें अेकत्रित होती है, लेकिन दूकानको कोअी घर नहीं कहता। पुस्तकोंकी दूकानको पुस्तकालय नहीं कहा जा सकता।

जैसा कि हम अूपर कह गये है, जीवनही साहित्यका क्षेत्र है। अिसलिये जीवनके सभी क्षेत्र हमारे चिन्तनके विषय है। लेकिन अिन क्षेत्रोंमेसे अेक बहुत ही महत्वके और व्यापक क्षेत्रको हम फ़िलहाल जान बूझकर अलग रखनेवाले है। राजनीति की अुच्च भूमिका परसे चर्ची जानेवाली राजनीतिकी हमारे कल्पित साहित्यमे कोअी बाधा नही है। लेकिन वर्तमान परिस्थितिमें यही अिष्ट है कि हम अपनी भावनाअें मौन-द्वारा व्यक्त करे। आज देशमें सबको अेकत्र लानेकी बहुत जरूरत है। धर्माभिमान, जात्यभिमान, प्रान्ताभिमान और राजनैतिक पक्षभेद आदि बातोंसे हमारी मनोवृत्तियाँ अितनी प्रक्षुब्ध, संकुचित और बुद्धिविमुख हो जाती है कि अुससे सांस्कृतिक संगठन अधिकाधिक मुश्किल हो जाता है। जहाँ दिल खोलकर बात नहीं की जा सकती वहाँ मौन रखना अच्छा है। डरते डरते या किसीके दबावमे आकर झूट-सचका मिश्रण करनेमें या टेढे ढंगसे बोलनेमें सत्यका पालन नहीं है, सामर्थ्य नहीं है, तेजस्विता नहीं है और मानासिक सन्तोष तो हरगिज़ नहीं है। और परिणाम देखने जाओ तो शून्य! अिन सब कारणोंसे हमने अपन प्रवृत्तिको राजनीतिसे अलिप्त रखना ही पसन्द किया है।

जहाँतक हो सके, व्यक्तिगत आलोचना भी टालनेका हमारा निश्चय है। जहाँ सभी स्खलनशील हों वहाँ कौन किसका अुपहास

करे ? पहला पत्थर कौन मारे ? फिर व्यक्तिगत टीका करनेसे न टीका करनेवालोंको लाभ होता है, न सुधरता है टीकाका विषय हुआ व्यक्ति। वह या तो चिढ़ जायेगा या नाअुम्मीद होकर निराश हो जायेगा। परिणामस्वरूप सामाजिक जीवन अधिकाधिक नीचे गिरता जाता है अैसा सार्वत्रिक अनुभव है।

कुछ लोग कहते हैं कि साहित्य जीवनका समालोचन है। बात सही है; लेकिन अुसमें सारा सत्य नहीं आ जाता। साहित्य जीवनकी पुनर्घटना है, नवसर्जन है और कभी कभी वह जीवनप्रेरणा भी होता है। यह सब आदर्श हमारी दृष्टिके सामने हैं।

भारतीय साहित्य संगठनका मुख्य कार्य तो राष्ट्रभाषाद्वाराही चलेगा। लेकिन अुसका सन्देश अपने अपने प्रान्तोंमें अपने अपने ढंगसे पहुँचानेका काम प्रान्तीय भाषाओंको ही करना है। सब मिलकर अेक ही पंक्तिमें भोजन करने बैठे हों तो भी प्र ेक व्यक्तिको अपनी भूख, स्वास्थ्य और अभिरुचिका विचार करके यह निश्चित करना पड़ता है कि क्या खाना है, कितना खाना है और किस तरह ाना है। अिसी तरह प्रान्तीय भाषाओंको करना पड़ेगा।

और सब कुछ देना हो तो भी देते समय शबरीकी तरह हर बेर अच्छी तरह देख-भालकर समर्पित करना अच्छा है। दूसरे अेक ढगसे भी सोचा जा सकता है। हम 'महाराष्ट्रीय साहित्य' या 'भारतीय साहित्य' जैसे शद्बोंका अिस्तेमाल करते है। 'महाराष्ट्रीय संस्कृति' 'भारतीय संस्कृति' जैसे शद्बोंका भी हम प्रयोग करते है। लेकिन क्या अुस अुस साहित्य या संस्कृतिको अेकरूप बनानेका हमने कभी प्रयत्न किया है ?

'मराठी बोलनेवाले सभी महाराष्ट्रीय है।' यह परिभाषा तो ठीक है, लेकिन मराठी बोलनेवाले हम सब अेक है; अेक दूसरे के हैं अिस

प्रकारकी वृत्ति जागृत करनेके लिये या अुसे दृढ करनेके लिये क्या हमने साहित्यमे कोअी प्रयत्न किया है? अेक दूसरे की टीकाटिप्पणी करके, अेक दूसरे के दोष जाहिर करके हमने अेक दूसरे की सेवा की है अैसा शायद हम मानते होंगे, लेकिन अैसा करने से क्या हृदयोंका मिलन हुआ है? क्या अैसा विश्वास अेक दूसरे के मन में पैदा हुआ है कि संकटके समय अपनी मददके लिये कोअी न कोअी जरूर दौड़ आयेगा? क्या यह अर्थ हमारे यहाँ हुआ है कि 'महाराष्ट्र का अभिमान' के मानी सिर्फ़ 'मै और मेरा' का ही अभिमान नहीं बल्कि सभी महाराष्ट्रियोंके प्रति अपनापन, सबके प्रति प्रेम है? अैसी भावना हो या न हो, अगर वह पैदा करनेकी धुन हो तभी भारतीय साहित्यके संगठन की कल्पना और आस्था हममें अुत्पन्न होनेवाली है। आजका हमारा साहित्य ज्यादातर सफेदपोश श्रेणीका साहित्य है। कुछ लोग अुसे ब्राह्मणी-साहित्य कहते है। 'ब्राह्मण आणि त्यांची विद्या' के लेखक प्रिन्सिपल गोळे की व्याख्या के अनुसार अिसमें शक नहीं कि आजका साहित्य ब्राह्मणी साहित्य है। अेक तरहसे मध्यम श्रेणीका साहित्य पराभूत या हारेहुअेका (Defeatist) साहित्य है। पराभूत साहित्यका अेक लक्षण यह है कि हमारे पतित देशके लिये बीच बीच में हाय हाय करना, कभी दूसरों के दोष निकालना, कभी देशकी पतित दशा को भुला ने के लिये पूर्वजों के गुणगान करना; समय-असमयपर दूसरों के साथ तुलना करने बैठना, और अपने को दूसरोंके जितना यश क्यों न मिला अिसकी कारणमीमांसामें बहुत बारीकीसे अुतरना, किसीको यश मिले तो अुसका अभिनंदन करके अुसका अनुकरण करनेके बदले किन बाह्य कारणोंसे अुसे यश मिला अिसकी चिकित्सा करके यह ध्वनित करनेका प्रयत्न करना कि अैसा मौका अगर हमको मिल जाता तो हमने भी अैसा ही पराक्रम कर दिखाया होता, और यशप्राप्तिके

लिये जो पुरुषार्थ करना पड़ता है, अुसके लिये जो संयम रखना पड़ता है, अुसका प्रयत्न करने के बजाय ध्येयवाद, साधक जीवन, संयम और त्याग का अुपहास करके धूर्तताको, बकवादको ही महत्त्व देकर सभी तरहके विलासको ही जीवनसर्वस्व मानकर क्षुद्र परिस्थितिमे भी जो कुछ विलास सेवन तथा विलासचिन्तन संभव हो अुसीमें मशगूल रहना और वही स्वाभाविक है अैसा लोगोंके दिलोंमें अुतारनेका प्रयत्न करना।

ध्येयवादका भी अेक अैसा ही defeatist संस्करण हुआ करता है। अुसे भी हम न भूलें। जिन्हे पराक्रम या पुरुषार्थ नहीं करने होते अुन्हें मनोराज्य या हवाअी किले बनानेकी आदत पडती है। अैसे मनोराज्य कभी कभी ध्येयवादका रूप धारण करते है और अिसलिये प्रत्यक्ष कार्यका प्रारंभ करना वह टालते है। हमें यह समझ लेना चाहिये कि अिस तरहका साहित्य भी पराभवी साहित्य ही है। आदर्श चित्रण कोअी आदर्श सेवन नहीं कहा जा सकता; समर्थ भक्ति कहीं सामर्थ्यकी अुपासना नहीं है। हमे होशियार या सचेत साहित्यका स्वरूप पहचानना चाहिये; जिन्दा या जीवित विचार चिन्तनकी आदत डालनी चाहिये और वैसा करने के लिये जीवनकी ही अुपासना करनी चाहिये।

साहित्यका दावानल प्रकट करनेसे खाना जंगी या गृहयुद्ध फैलानेसे समाज समर्थ या समृद्ध होनेवाला नहीं है। सच्ची सेवा करनी हो तो जीवनसे परिप्लुत साहित्यकी वर्षा करनेकी शक्ति प्राप्त करनी चाहिये।

नवंबर १९३६

रस-समीक्षा : कुछ विचार

सहज विचार करनेसे मालूम होगा कि साहित्य, संगीत और कला तीनो भावनाके ही क्षेत्र होनेसे तीनोके अन्दर समानेवाली वस्तु (contents) अेक ही हो सकती है, अुसे हम रस कहते है। साहित्याचार्योंने रसचर्चा तो अनेक प्रकारसे की है। संगीतमे यह देखा जाता है कि राग और तालके अनुसार रसमें परिवर्तन होता जाता है। चित्रकलामे नवरसके भिन्न भिन्न प्रसंग चित्रित किये जाते है। रेखाओंकी सबलता द्वारा तथा वर्णोंके साहचर्यसे रस व्यक्त किये जाते हैं। मूर्तिविधान, स्थापत्य, नृत्य आदि विविध कलाओं द्वारा भी अन्तमें रसोंकी ही अभिव्यक्ति करनी होती है। लेकिन अब तक साहित्य, संगीत और कलाओंकी दृष्टिसे—अर्थात जीवनकलाकी समस्त यानी सार्वभौम दृष्टिसे—रसका विवेचन किसीने नहीं किया है। साहित्याचार्योंने जो विवेचन किया है अुसे स्वीकार करके और अुसका संस्करण करके अुसे व्यापक बनानेकी ज़रूरत है।

यह ज़रूरी नहीं है कि पूर्वाचार्योंने जिन नवरसोंका वर्णन किया है अुनके वही नाम और अुतनी ही संख्या हम मान लें। अब अिस बातकी स्वतंत्रतापूर्वक मीमांसा होनी चाहिये कि संस्कारी जीवनमें कलात्मक रस कौन—कौन—से है।

हमारे यहाँ शृंगारको रसराज कहा गया है। अुसे अग्रपूजाका मान है। लेकिन वास्तवमें वह सर्वोच्च रस नहीं कहा जा सकता। प्राणीमात्रमे नर—मादाका अेक दूसरेके प्रति आकर्षण होता है। प्रकृतिने अिस आकर्षणको अितना अधिक अुन्मादकारी बना दिया है कि अुसके आगे मनुष्यकी सारी होशियारी, सारा सयम और सब विवेक नष्ट हो

जाता है। हम यह सवाल यहाँ न छेड़ें कि अिस आकर्षण को अुत्तेजन देना आवश्यक है या नहीं। पर अिस आकर्षण और प्रेमके बीच जो सम्बन्ध है अुसे अच्छी तरह समझ लेना चाहिये। पहले हमें अिसका निश्चय कर लेना चाहिये कि नर-मादाके आपसी आकर्षणमें अेकदूसरेके प्रति यथार्थमें प्रेम होता है या अहंप्रेम (self-love) की तृप्तिके साधनरूप ही वह अेकदूसरे की तरफ़ देखते हैं। प्रकृतिकी रचना कुछ अैसी है कि काम-वासना का प्रारंभ अहंप्रेमसे होता है। लेकिन अगर यह काम धर्ममार्गसे चले तो वह विशुद्ध प्रेम में परिणत हो जाता है। विशुद्ध प्रेममें आत्मविलोपन, सेवा और आत्मबलिदानकी ही प्रधानता रहती है। कामको विकार कहा गया है; प्रेमको कोअी विकार नहीं कहता, क्योंकि अुसके पीछे हृदयधर्मकी अुदात्तता होती है। यहाँ धर्मके मानी रूढ़िधर्म या शास्त्रधर्म नहीं किन्तु आत्माके स्वभावके अनुसार प्रकट होनेवाला हृदय-धर्म है।

शृंगार मूलतः भोगप्रधान होता है। लेकिन हृदय-धर्मकी रासायनिक क्रियासे वह भावना-प्रधान बन जाता है। यह रसायन और परिणति ही काव्यका, कलाका विषय हो सकती है। प्राचीन नाट्यकारोंने जिस तरह नाटकोंमें रंगमंचपर भोजनका दृश्य दिखलानेका निषेध किया है अुसी तरह भोगप्रधान शृंगार चेष्टाओंको भी खुल्लमखुल्ला बतलानेकी मुमानियत कर दी है। यह तो कोअी नहीं कह सकता कि नाट्यशास्त्रकारोंको खाने-पीनेसे या रतिसुखसे घृणा थी। देह-धर्मके अनुसार अिन वस्तुओंके प्रति स्वाभाविक आकर्षण तो रहेगा ही, पर वैसी घटनाअें और वैसे आकर्षण कलाका विषय नहीं हो सकते। यह कहनेके लिये कि कलाकृतिमें अुस वस्तुको स्थान नहीं होना चाहिये किसी प्रकारकी वैराग्यवृत्तिकी आवश्यकता नहीं है। अुसके लिये सिर्फ संस्कारिता हो तो काफ़ी है। मध्य-यूरपके अेक

मित्रने 'पहले महासमर' के बादकी यूरपकी गिरी हुअी हालतका वर्णन करते हुअे लिखा था कि 'हमारे यहाँ अब भोजनके आनन्दपर भी कवितायें लिखी जाने लगी है।' यूरपके अच्छे अच्छे कलारसिक, जो अिस दोषसे अूब गये है, हमारे नाट्यशास्त्रमें शृंगार-चेष्टाओंके प्रति संयम रखनेका जो सुझाव रखा गया है, अुसका अब वे स्वागत करने लगे हैं।

प्रेमरसका शुद्ध वर्णन हमें भवभूतिके 'अुत्तररामचरित्र' में मिलता है। 'शाकुन्तल' में प्रेमका प्राथमिक शृंगारिक स्वरूप भी है और अन्त का परिणत विशुद्ध रूप भी। वास्तवमें देखा जाय तो प्रेमको ही रसराजकी अुपाधि मिलनी चाहिये। शृंगारको तो केवल अुसका आलम्बन-विभाव कहा जा सकता है। शृंगारके वर्णनसे मनुष्य की चित्त-वृत्तिको आसानीसे अुद्दीपित किया जा सकता है। अिसीलिये सब देशो और सब ज़मानेमें कलामात्रमें शृंगारको प्रधानता प्राप्त हुअी दिखाअी देती है। जैसे ऋतुओंमें वसन्त, वैसे रसोंमें शृंगार अुन्मादकारी होता ही है। जिस तरह लोगोंकी या व्यक्तिकी खुशामद करके बातचीतका रस बडी आसानीसे निभाया जा सकता है अुसी तरह शृंगार-रसको जागृत करके बहुत थोड़ीसी पूँजीपर कलाकृतियोंको आकर्षक बनाया जा सकता है।

सच्चे प्रेमरसमें अपने व्यक्तित्वको भुलाकर दूसरेके साथ तादात्म्य का अनुभव करना होता है। अिसीलिये प्रेमरसमें आत्म-विलोपन और सेवाकी प्रधानता होती है, प्रेम आत्माका गुण है, अिसीलिये वह देहपर विजय प्राप्त करता है। प्रेम ही आत्मा है। सभी प्रेमियों, भक्तो और वेदान्ती दर्शनकारोंने यह बात स्पष्ट कर दी है कि अमर प्रेमसे आत्मा भिन्न है ही नहीं। वीररस भी अपने शुद्ध रूपमें आत्म-विकासका ही सूचन करता है। सामान्य स्वस्थ स्थितिमें मनुष्य अपने आत्मतत्वकी अुत्कटताका अनुभव नहीं करता। क्योंकि वह देहके

साथ अेकरूप होता है। लेकिन जब असाधारण अवसरके कारण खरी कसौटीका वक्त आ जाता है तब मनुष्य अपने शरीरके बन्धनो से अूँचा चढ़ता है। अिसीमें वीररसकी अुत्पत्ति है।

प्रतिपक्षीका द्वेष, अुसके प्रति क्रूरता, अुसके विरुद्ध अहंकारका प्रदर्शन आदिमें वीररस समाया हुआ नहीं है। लोक-व्यवहारमें कअी बार यह सब हीन भावनाअें वीरकर्ममे मिली हुअी होती है। वैसा होना कभी कभी अपरिहार्य भी हो जाता है। लेकिन यह ज़रूरी नहीं कि साहित्यमें अुन्हें स्थान हो ही। साहित्य वास्तविक जीवनका कोअी संपूर्ण फ़ोटोग्राफ नहीं हुआ करता। साहित्यमें वहीं चीज़ें लानी होती हैं जिनकी तरफ़ ध्यान खींचना आवश्यक हो। अिष्ट वस्तुको आगे लाना और अनिष्ट वस्तुओंको दबा देना साहित्य और कलाका आत्मा है। अिस पुरस्कार और तिरस्कारके विना कलाकी संभावना ही नहीं होती। वीररसके लिये जो कुछ हानिकर हो अुसे साहित्यमेंसे निकाल देना चाहिये। तभी वह साहित्य कलापूर्ण होगा।

लोक-व्यवहार मे वीररस अमुक आर्यता चाहता ही है। पशुओंमें शौर्य होता है पर वीर्य नहीं होता। जानवर जब जोश में आकर आपेसे बाहर हो जाते है तब वे आपसमे अंधाधुंध लड़ पडते है। लेकिन अुनमें डरका तनिक भी प्रवेश हो जाय तो अपनी दुम दबाकर भागने मे अुन्हे देर नहीं लगती। भयकी लज्जा तो वह जानते ही नहीं। भयकी लज्जा आत्मा का गुण है। जानवरों में वह नहीं हुआ करती। आवेश हो या न हो; तीव्र कर्तव्य-बुद्धिके कारण अथवा आर्यत्वके विकसित होनेसे मनुष्य भयपर विजय प्राप्त करता है। आलस्य, सुखोपभोग, भय, स्वार्थ—अिन सबको त्यागकर, चमडी बचानेकी वृत्तिसे मुक्त हो, आत्म-बलिदान के लिये जब मनुष्य तैयार हो जाता है तब वह जड़ पर—अपनी देहपर विजय प्राप्त करके आत्मगुणका अुत्कर्ष

बताता है। अैसा वीर–कर्म , अैसी वीर-वृत्ति देखने या सुननेवाले के हृदय मे भी समान भाव–समभाव को जागृत करती है यही वीर-रसका आकर्षण और वास्तविक सफलता है ।

वीरोंका वीरकर्म देखनेके बाद–हमारी बाज़ू में वीर या वीर-समूह खडा है अिसलिये हम सही-सलामत हैं , अब भयका कोअी कारण नहीं–अिस तरहका सन्तोष भी दुर्बलों तथा अबलाओंको मिलता है। अिसे वीर-रसका कोअी सर्वोच्च परिणाम या फल नहीं कहा जा सकता।

जिस ज़मानेमे मनुष्य अपनी देह का मोह करनेवाला, फूँक फूँककर क़दम रखनेवाला और घर घुसा बन जाता है अुस ज़माने में वह वीरोंका बखान करके, अुन्हें अुभाडकर या अुनकी बहादुरी की तारीफ़के पुल बाँधकर अुनके हाथो अपने लिये सुरक्षा प्राप्त करता है। अैसोंके समाजमें वीररसकी, वीरकाव्यकी, जो चाह होती है, प्रतिष्ठा होती है अुस परसे यह न समझ लिया जाय कि अुस समाजमें आर्यत्वका अुत्कर्ष होने लगा है। जब बबओीमें लोकमान्य तिलकजी पर मुक़द्दमा चल रहा था तब वहाँके मिलमज़दूरोंने बडा दंगा किया था। अुनका वह तूफ़ान देखकर मध्यम वर्ग तथा व्यापारी वर्गके कअी लोग घरोंके अन्दर छिप बैठे। जब अुस आन्दोलनका दमन करनेके लिये सरकारी फ़ौज आयी तब अुसे देख वही लोग मारे खुशीके हुर्रेहुर्रे की जयध्वनि करने लगे और अपने हाथोंसे रूमाल अुछालने लगे। फौजके अुन वीरोंका स्वागत-सम्मान करते समय अुनके मुँहसे जो वीर-गान निकला अुससे यह नहीं कहा जा सकता कि अुस समाजके वीरत्वकी वृद्धि हुअी। यह आँखों देखी घटना है, अिसलिये अुसका असर दिलपर कायम रह गया है ।

वीर-रसकी कद्र अगर वीर करे तो वह अेक बात है, और रक्षण या आश्रय चाहनेवाले करे तो वह दूसरी बात है। वीर हमेशा वीररसको शुद्ध

रखनेकी फिक्र रखता है, जब कि आश्रयपरायण लोग प्राण-त्राण-पेलव होनेसे आर्य-अनार्य-वृत्तिका विवेक रखे विना रक्षणकर्ताके प्रति नाथ-निष्ठा रखकर अुसके सभी गुणदोषोंको अुज्ज्वल रूपमें ही देखते है।

वीरवृत्तिसे ही वैरवृत्ति जागृत होती है। अिसका कोअी अिलाज न देखकर आर्य-धर्म-कारोंने अिसकी मर्यादा बाँध दी है कि 'मरणान्तानि वैराणि'। शत्रुके मर जानेके बाद अुसकी देहको लात मारना, अुसके शरीरके टुकड़े टुकड़े करना, अुसके आश्रितोंको सताना, अुनकी स्त्रियोंका अपना करना, यह सब अेक आर्यवीरके लिये शोभा देनेवाला नहीं है। वीर पुरुषोंने यह देख लिया था कि अिस तरहके बर्तावसे मरे हुअे शत्रुका अपमान नहीं होता बल्कि अपने वीरत्व को ही बट्टा लगता है। आर्य साहित्यचार्यों, कवियों और कलाकारोंने यह कह रखा है कि अगर दुश्मनी करनी हो तो अैसे आदमीके साथ करो जो अपने लायक हो, और अुसे हरानेके बाद अुसकी कद्र करके अुसकी प्रतिष्ठा को बनाये रखो और अिस तरह अपना गौरव बढ़ाओ।

वीरवृत्तिका परिचय मनुष्यके ही विरोधमें नहीं दिया जाता बल्कि सृष्टिके कुपित होनेपर भी मनुष्य अपनी अुस वृत्तिको विकसित कर सकता है। जब मेरा शत्रु तलवार निकालकर मेरे सामने खड़ा हो तब केवल आत्मरक्षाकी दृष्टिसे भी मुझे अपनी सारी शक्तिको अेकत्रित करके अुसका मुक़ाबला करना पडता है। अुस वक्त अगर मै लड़ाकू वृत्ति न रखूँ तो जाअूँ कहाँ? सिंहगढ़की दीवारपर चढ़कर अुदयभानुके साथ संग्राम करनेवाली तानाजीकी फ़ौज जब हिम्मत हारने लगी तब तानाजीके मामा सूर्याजीने दीवारपरसे नीचे अुतरनेकी रस्सियाँ काट डालीं। अमरीका पहुँचनेके बाद स्पेनिश वीर हर्नेन्डो कॉर्टेज़ ने अपने जहाज़ जला दिये। अिस तरह पीठ फेरना ही जब असंभव हो जाता है तब आत्मरक्षाकी वृत्ति वीरवृत्तिकी मदद करने आती है, और जिसे अपनी

जान ज्यादा प्यारी होती है वही अैसे मौक़ेपर अधिक शूर बन जाता है।

लेकिन जब कोअी आदमी पानीमें डूब रहा हो या जलते हुअे घरके अन्दरसे किसी असहाय बच्चेकी चीख़ सुनाअी दे रही हो तब अपनी सलामतीका, जानके ख़तरेका तनिक भी खयाल किये बग़ैर कोअी तेजस्वी पुरुष हृदयधर्मसे वफ़ादार रहकर पानी या आगमें कूद पड़ता है तब वह वीरवृत्तिका परम अुत्कर्ष प्रकट करता है। जो व्यक्ति माफ़ी माँगकर जीनेकी अपेक्षा फाँसीपर लटकना ज्यादा पसन्द करता है, या करोड़ों रुपयोंकी लालचके वशमें न होकर केवल न्यायबुद्धि को ही पहचानता है वह भी अलौकिक वीरत्वका ही परिचय देता है। सारी दुनियाका चाहे जो हो जाय, पर अन्तरात्माके नादसे तो मैं हरगिज़ बेवफा न हूँगा—अिस तरहकी धीरवृत्ति जिसके लिये स्वाभाविक होती है वह वीरेश्वर ही है।

किसीकी बहू-बेटी या स्त्रीका अपहरण करते समय भी कअी गुंडे-बदमाश विकारके वश होकर असाधारण बहादुरी दिखाते हैं। बड़े बड़े डाकू भी जान हथेलीपर रखकर घरोंमें सेंध लगाते है या लूटमार मचाते हैं, और पकडे जानेपर पुलिसके आदमी अुनपर प्राणान्तिक यमयातना ढा दें तो भी अपने षड़यंत्रका भेद नहीं बताते। अुनकी यह शक्ति लोगोंमें आश्चर्य और तारीफके भाव जरूर पैदा कर सकती है, लेकिन प्रामाणिक लोगोंका धनहरण या परस्त्रीका अपहरण करने की नीचातिनीच वृत्तिसे प्रेरित बहादुरीकी कोअी आर्यपुरुष क़द्र नहीं कर सकता। कुछ डाकू बड़े बड़े डाके डालकर प्राप्त होनेवाले धनका अेक भाग आसपासके प्रदेशके ग़रीब लोगोंमे बाँट देते हैं और अिस तरह लोकप्रिय बनकर अपने को पकड़ने की कोशिश करनेवालों के छक्के छुड़ा देते है। कभी कभी अैसे डाकू

और लुटेरे प्रख्यात समाज कंटक लोगों का नाश करके, अुनका सर्वस्व लूटकर ग़रीबों को भयमुक्त करते हैं। अिसलिये भी कृपण जनता अैसे लोगों की सामान्य दुष्टताको भूलकर अुसके गुणोंका बखान करने लगती है। यह सब चाहे जितना स्वाभाविक क्यों न हो, फिर भी अैसा नहीं कहा जा सकता कि अिससे समाज की अुन्नति होती है। श्रीरामचन्द्रजीकी यह अुक्तिकि 'पाल्या हि कृपणा जनाः' प्रजाके गौरव को नहीं बढ़ाती। जिससे लोक हृदय अुन्नत नहीं होता अैसी कृतिमें से शुद्ध वीररस निकलता है अैसा नहीं कहा जा सकता। सिर्फ़ हिम्मत और सरफ़रोशी वीररस नहीं है और शत्रुको बेरहमीसे अंगभंग करने में, अुसके आश्रितों की बेअिज्जती करने मे वैरवृत्तिकी तृप्ति भले ही हो, लेकिन अुसमें न शूरता है, न वीरता; फिर आर्यता कहाँसे होगी?

जो आदमी युद्ध करने जाये अुसमे खून, मांस और शरीरके छिन्न-भिन्न अवयवों को देखने की आदत तो होनी ही चाहिये। दुःख और वेदना—अपनी हो या परायी—सहन करने की शक्ति अुसमें होनी ही चाहिये। शस्त्रक्रिया करनेवाले डाक्टरों में भी अिस शक्ति का होना आवश्यक है। समझमें नहीं आता कि खून की धारको देखकर कुछ लोगोंको चक्कर क्यों आ जाता है। खुद मुझे मांस कटता देख या शस्त्रक्रिया देखते समय किसी किस्मकी बेचैनी महसूस नहीं होती। फिर भी जब मैं वीररस के वर्णन के सिलसिले में रणनदी के वर्णन पढ़ता हूँ तब अुसमेंसे बग़ैर जुगुप्साके दूसरा भाव पैदा नहीं होता। यह तो मैं समझ ही नहीं सकता कि खूनके कीचड़ और अुसमे अुतराते हुअे नररुण्डोके वर्णनसे वीररसको किस तरह पोषण मिलता है। युद्धमें जो प्रसंग अनिवार्य हैं अुनमेसे मनुष्य भले ही गुज़रे, लेकिन जुगुप्सा पैदा करनेवाले प्रसंगोका रसपूर्ण वर्णन करके अुसीमें आनन्द माननेवाले लोगोंकी वृत्तिको विकृत ही कहना चाहिये। मनुष्यको खंभेसे बाँधकर, अुसपर कोलतारका अभिषेक कराके अुसे

जला देनेवाले और अुसकी प्राणान्तिक चीखें सुनकर सन्तुष्ट होनेवाले बादशाह नीरोकी बिरादरीमें हम अपना शुमार क्यों करायें?

वीर-रस मानवद्वेषी नहीं है। वह परम कल्याणकारी, समाज-हितैषी और धर्मपरायण आर्यवृत्तिका द्योतक है और अुसे वैसा ही रखना चाहिये। वीररसका पोषण और संगोपन वीरोंकेही हाथमें रहना चाहिये। वीरवृत्तिको पहचाननेवाले कवि, चारण, और शायर अलग होते हैं और अपनी रक्षाकी तलाशमें रहनेवाले कायर तथा आश्रित अलग।

पुराने ज़मानेकी वीरकथाअें हम जरूर पढ़ें, आदरके साथ पढ़ें, लेकिन अुनमेंसे हम पुरानी प्रेरणा न लें, हीन सन्तोष हमें त्याज्य ही लगना चाहिये। जीवनके वीर्यका नया आदर्श स्वतंत्र रूपसे विकसित करके अुसके लिये आवश्यक पोषक तत्व पुरानी वीर-कथाओंमेंसे जितने मिल सकें अुन्हें चुन चुनकर हम ज़रूर अिस्तेमाल करें। लेकिन वीररसके पुराने, क्रूर या जीवनद्रोही आदर्शोंमें हम फिसल न जायँ। हमे यह नहीं भूलना चाहिये कि अगर जीवनमेंसे वीरता चली गयी तो वह अुसी क्षणसे सड़ने लगेगा और अन्तमें अेक भी सद्‌गुण न बच पायेगा।

वर्तमान युगके कलाकारोंके अग्रणी श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुरको अेक बार जापानमें अेक अैसा स्थान दिखाया गया जहाँ दो वीर लड़ते लड़ते कट मरे थे। अुस स्थान और अुस घटनापर अपनी प्रतिभाका प्रयोग करके कोअी कविता लिखनेके लिये अुनसे कहा गया। कविवरने वहाँ जो दो चरण लिख दिये वह भारतवर्षके मिशन तथा मानवजातिके भविष्यको शोभा देनेवाले थे। अुनका भाव यह है कि, 'दो भाअी गुस्सेमें पागल होकर अपनी मनुष्यताको भूल गये और अुन्होंने धरती माताके वक्षःस्थलपर अेक दूसरेका खून बहाया।

प्रकृतिने यह देखकर ओसके रूपमे ऑसू बहाये और मनुष्यजातिकी अिस रक्तरंजित लज्जाको हरी हरी दूबसे ढाँक दिया।'

शान्तिप्रिय, अहिंसापरायण, सर्वोदयकारी, समन्वयप्रेमी संस्कृतिका वीररस त्यागके रूपमें ही प्रकट होगा। आत्मविलोपन, आत्मबलिदान ही जीवन की सच्ची वीरता है। अुसके असंख्य भव्य प्रसंग कला के वर्ण्य विषय हो सकते है। अैसे प्रसंग कलाको अुन्नत करते है और जनता को जीवन-दीक्षा देते है। मैंने अभी अिस बातकी जाँच नहीं की है कि आज के कलाकार अिस पहलूको विशेप रूप से विकसित करते है या नहीं, लेकिन अितना तो मै जानता हूँ कि अगर भविष्यकी कला अुस दिशामें गयी तो निकट भविष्यमे वह असाधारण प्रगति कर सकेगी और समाज सेवा भी अुसके हाथों अपने आप होगी।

जब भवभूतिने यह सिद्धान्त स्थिर किया कि 'रस अेक ही है, और वह है करुणरस; वह अनेक रूप धारण करता है,' तब अुसने करुण शब्दको अुतना ही व्यापक बनाया जितना कि कला शब्द है। हृदय कोमल बने, अुन्नत बने, सूक्ष्मवेदी बने या अुदात्त बने वहाँ कारुण्य की छटा तो आयेगी ही। कारुण्य की समभावना या समवेदना सार्वभौम है, अुसके द्वारा हम विश्वात्मैक्य तक पहुँच सकते है। करुणरस सचमुच रससम्राट है। लेकिन यह आवश्यक नहीं कि करुणरस मे शोक की भावना होनी ही चाहिये। वात्सल्यरस, शान्तरस और अुदात्तरस करुणाके जुदे जुदे पहलू है। जिस तरह नदियाँ सागर में जा मिलती है अुस तरह अन्य सब रस अन्तमे जाकर करुण रसमें विलीन हो जाते है। अिन सब रसोंके लिये अेक मित्रने नाम सुझाया है, 'समाहित रस' अर्थको देखते हुअे यह नाम बिलकुल ठीक मालूम होता है। लेकिन भाषामे यह सिक्का चल सकेगा या नहीं अिसमे शक है। वास्तवमें देखा जाय तो सभी रसों की परिणति योगमें ही है। योग अर्थात् समाधि-समाधान-साम्यावस्था-

सर्वात्मैक्यभाव। कलामें से अन्तमें यही वात निकलेगी। कलाका साध्य और साधन यह योग ही है। दुर्भाग्यकी वात है कि योग का यह व्यापक अर्थ आज की भाषा में स्वीकार नहीं किया जाता। नाक पकड़कर, पलथी मारकर, बडी देर तक नींद लेना और भूखों मरना ही लोगोंकी दृष्टि में 'योग' रह गया है।

हमारे साहित्यकारोंने करुणरस का वहुत सुन्दर विकास किया है। कालिदासका 'अजविलाप' या भवभूतिका 'अुत्तररामचरित' करुण रसके अुनमे से अुत्तम नमूने माने जाते हैं। भवभूति जव करुणरस का राग छेडता है तव पत्थर भी रोने लगते हैं और वज्र की छाती भी पिघलकर चूर चूर हो जाती है। करुण रस ही मनुष्य की मनुष्यता है। फिर भी यह जरूरी नहीं कि करुण रसका अुपयोग केवल स्त्री-पुरुष के पारस्परिक विरह-वर्णन में ही हो। माँ अपने वच्चे के लिये विलाप करे तो अुतने से भी करुणरस का क्षेत्र पूरा नहीं होता। अनन्त कालसे हर ज़माने में और हर मुल्कमें, हर समाज में और हर कारण से महान् सामाजिक अन्याय होते आये है। हज़ारो लाखो लोग अिन अन्यायो के शिकार होते आये हैं। अज्ञान, दारिद्र्य, अुच्चनीचभाव, असमानता, मत्सर, द्वेष लोभ आदि अनेक कारणोंसे तथा बिना कारण भी मनुष्य मनुष्यको सताता है, गुलाम वनाता है, चूसता है और अपमानित करता है। यह सब घटनाअें करुणरस के स्वाभाविक क्षेत्र हैं।

नल राजाके हसको पकडने या अेकाध सिंहके नन्दिनी गाय को धर दबोचने का दुःख हमारे कवियोंने गाया है। कोअी निषाद क्रौंचपक्षी के जोडेमेसे अेक को बाणसे विद्ध करता है तो वाल्मीकि की शापवाणी सारी दुनिया के हृदय को भेद कर अिस अन्यायकी तरफ़ अुसका ध्यान खींचती है। फिर भी मनमे अैसा नहीं लगता कि पशुपक्षियो का या गायभैंस का दुख अभी किसीने गाया है। मध्यम वर्गके लोग विधवा-

ओंके दुःखोंका कुछ वर्णन करने लगे है। लेकिन अुसमें भी भवभूतिका ओजो गुण या वाल्मीकि का पुण्य प्रकोप प्रकट नहीं हुआ है। करुण-रसका असर जितना होना चाहिये अुतना नहीं हुआ है। अिस-लिये हृदयकी शिक्षा और हृदयधर्मकी पहचान अधूरी ही रही है। और अिसीलिये गांधीजी जैसे व्यक्ति अस्पृश्यताके कारण अपने हृदयका दर्द व्यक्त करते हैं तो भी सामाजिक हृदय अधिकांशमें अस्पृष्ट ही रहता है। करुण रससे सिर्फ़ हृदय पिघले तो अुतना काफी नहीं है। अुससे हृदय सुलग अुठना चाहिये और जीवनमें आमूलाग्र क्रांति हो जानी चाहिये। जीवनके प्रत्येक व्यवहारके लिये हृदयधर्ममेंसे मनुष्यको अेक नयी कसौटी तैयार करनी चाहिये।

अगर यह कहा जाय कि प्राचीन लोगोंको हास्य-रसकी यथार्थ कल्पना तक नहीं थी, तो अुसमें ज़्यादा अतिशयोक्ति नहीं है। नर्म वचन और सुन्दर चाटूक्तियाँ तो संस्कृत साहित्यमे जहाँ तहाँ बिखरी पड़ी है; हमारी संस्कारिता की वह विशेषता है। लेकिन अूँचे दर्जेका हास्यरस अुसमे बहुत ही कम पाया जाता है। अब हमारे साहित्यमें हास्यरसने अनेक सफल प्रयोग किये है सही। फिर भी यह कहे बिना नहीं रहा जाता कि नाटकोंमें पाया जानेवाला हास्यरस बहुतही सस्ता और साधारण कोटि का है। हमारे व्यंग्यचित्रों (cartoons) और प्रहसनो में पाया जानेवाला हास्य-रस आज भी बहुत निम्नश्रेणीका है। पाठशाला के प्रीति-सम्मेलनोंमें हास्य और वीर दो ही रसोंको ज़्यादा तरजीह दी जाती है। अिसका कारण यही है कि बिना ज़्यादा मेहनत किये अुनमे सफलता मिलती है; अनायास तैयारी हो जाती है और तालियाँ भी ज़्यादासे ज़्यादा मिलती हैं। लेकिन' अिससे कलाकी प्रगति नही होती और जनता भी सस्कार-समर्थ नहीं बनती।

मै नहीं जानता कि हमारे कलाकारोंने अद्भुत-रसका परिपोष किन किन तरीकोंसे किया है। पर मेरे अभिप्रायमें अद्भुत-रसकी अुत्पत्ति

भव्यता (sublimity) मेंसे होनी चाहिये। वरना मनुष्यका अज्ञान जितना अधिक होगा अुतनी अुसे हर चीज़ अधिक अद्‌भुत मालूम होगी। अद्‌भुतका स्वरूपही अैसा है कि अुसके आगे कलाका सामान्य व्याकरण स्तंभित हो जाता है। विजयनगरके आसपासके पहाडोंमें बड़ी बडी शिलाओंके जो ढेर पड़े हैं अुनमें किसी तरहकी व्यवस्था या समरूपता तो तनिक भी नहीं है। लेकिन वहाँ तो अुसकी कुछ ज़रूरत ही नही मालूम होती। सरोवरका आकार, बादलोंका विस्तार, नदीका प्रवाह—अिनमें क्या कोअी किसी खास व्यवस्था की अपेक्षा रख सकता है? भव्य वस्तु अपनी भव्यतासे ही सर्वांग परिपूर्ण हो जाती है। नहरका व्याकरण नदीके लिये लागू नहीं होता; अुपवनका रचनाशास्त्र महाकान्तारके लिये अुपयोगी नहीं होता। जो कुछ भी भव्य, विस्तीर्ण, अुदात्त और गूढ है वह अनन्तका प्रतीक है और अिसीलिये वह अपनी सत्तासे परम-रमणीय है। महाकवि तुलसी-दासजीने जो कहा है कि 'समरथ को नहिं दोष गुसाअीं' वह नये अर्थमे यहाँ कलाके सूत्रके तौरपर ही अधिक सुसंगत मालूम होता है।

अद्‌भुत, रौद्र और भयानक तीनों रसोंका अुद्‌गम अेक ही है। हृदयकी भिन्न प्रतिभूतियों (Responses) के कारण ही अुनके अलग अलग नाम पडे है। जब शक्तिके आविर्भावसे हृदय दब जाता है, लज्जा खो बैठता है तब भयानक रसकी निष्पत्ति होती है। किसी अूँची और लटकती हुई कगारके नीचे जब हम खड़े रहते हैं तब हम यकीनके साथ जानते है कि यह शिलाराशि हमारे सिरपर टूट पडनेवाली नहीं है, अुलटे आंधी—तुफानसे वह हमारी रक्षा ही करेगी। फिर भी अगर वह कहीं गिर पड़े तो!—अितना खयाल मनमें आते ही हम दब जाते है। यह भी अेक शक्तिका ही आविर्भाव है। पर्वतप्राय सागर-लहरोंपर सवार होकर सफर करनेवाले जहाज़में बैठे बैठे हम इसी भावका दूसरी तरहसे अनुभव करते है।

भव्य वस्तुके साथ मनुष्य हमेशा अपनी तुलना करता ही रहता है। यह तुलना करते करते जब वह थक जाता है तब आप ही आप रौद्ररस प्रकट होता है। और जहाँ भव्यताकी नवीनता और असका चमत्कार मिट नहीं गया है वहाँ अद्भुत रसका परिचय मिलता है। यह तीनों रस मनुष्य की संवेदन-शक्तिपर आधारित है। हम नहीं जानते कि आकाशके अनन्त तारोंको देखकर जानवरोंको कैसा लगता होगा। बालकोंको तो वह अेक पालनेके चँदोवेकी तरह मालूम होता है लेकिन वही अेक प्रौढ़ खगोलशास्त्रीको तो नित्य-नूतन और वर्धमान अद्भुत रस के विश्वरूप-दर्शन के समान लगता है। अद्भुत रसकी खूबी यह है कि जिस तरह मेघका गर्जन सुनकर सिंहको गर्जना करने की अिच्छा होती है अुसी तरह आर्य हृदयको भव्यताका दर्शन होते ही अपनी विभूति भी अुतनी ही विराट, अुदात्त और भव्य करनेकी अिच्छा हो अुठती है। अद्भुत रसमें मनुष्यकी आत्मा अपनेको अद्भुततासे भिन्न नहीं मानती, बल्कि अेक तरहसे अुसमे वह अपना ही प्राकट्य देखती है; लेकिन रौद्र या भयानकमें वह अपने को भिन्न ही मानती है। जिसने अिन दोनों वृत्तियोंका अनुभव किया है अैसे कलाकारने अेकाअेक घोषित किया कि शिव और रुद्र अेक ही हैं; शान्ता और दुर्गा अेक ही है। जो महाकाली है वही महालक्ष्मी और महासरस्वती भी है। श्री रामचन्द्रजीका दर्शन होते ही हनुमानजी के भक्तहृदयने स्वीकार कर लिया :—

"देहबुद्ध्या तु दासोऽहम् जीवबुद्ध्या त्वदंशकः।
आत्मबुध्वा त्वमेवाऽहम्; यथेच्छसि तथा करु ॥"

अिस अन्तिम चरणमें जो सन्तोष है वही कलाके क्षेत्रमें शान्तरस है। रौद्र, भयानक और अदभुत यह तीनों रस अगर अन्तमें हमें शान्त रस मे न ले जायॅ, सन्तोष न दें, तो अिन्हें कोई रस ही न कहेगा।

अगस्त १९३६

: : : प्रेरक साहित्य

साहित्यके आम तौरपर दो विभाग किये जाते है। विचार-प्रेरक और आचार-प्रेरक। जो साहित्य पढ़नेसे मनुष्यको अुठकर काम करने की अिच्छा होगी, अपने जीवन तथा समाजमें भारी परिवर्तन कर डालनेकी अिच्छा होगी वह साहित्य आचारप्रधान या पुरुषार्थी साहित्य कहा जा सकता है। साहित्यके दूसरी तरहसे और दो विभाग कर सकते है :—अनुभवप्रधान और कल्पनाप्रधान। मनुष्यजातिकी प्रगतिकी मोर्चेपर हमेशा कल्पनाही रहती है। कल्पना मनुष्यके जहाज के पाल है। लेकिन अगर जहाजमें अनुभवका भार न हो तो यह कहना मुश्किल है कि पालमें भरा हुआ पवन अुसे कहाँ ले जायगा और किस खतरेमें झोंक देगा।

दिसंम्बर १९२९

: : : मधुमक्खियोंसे*

आपका 'वर्षामधु' देखकर आनंद हुआ। स्वाद और परिमाण दोनोंमें सन्तोष होने जैसा यह मधु है। 'वर्षामधु' तो साबरमती की बाढ जैसा पुष्ट दिखाअी देता है। लेकिन यह कितनी दुःखकी बात है कि अिसमें साबरमतीकी बाढ़ का कहीं जिक्र तक नहीं। साहित्यमेंसे साहित्यका निर्माण करनेकी कला आनी चाहिये अिस सालकी बाढ कोअी मामूली घटना नथी, अुसपर कवि महाकाव्य लिख सकते हैं। अुपन्यासकार अुस अनुभवपरसे अेक अद्भुत कहानी गढ़ सकता है। प्रत्यक्ष अनुभव अमूल्य वस्तु है। अब भी अगर आप चाहें तो अिस

* सत्याग्रहाश्रम के विद्यार्थियोंके अेक हस्तलिखित द्वैमासिक "मधपूडा"के संपादकों को लिखा हुआ अेक पत्र.

बाढ़ के अनेक दृष्टियोंसे अनेक वर्णन लिख सकते है। बाढ देखे बिना भी किन किन दृष्टियोंसे वर्णन लिखा जा सकते हैं अिसके अनेक कोन मैं आपको सुझा सकता हूं। लेकिन यह आपको ही सूझे तो अधिक अच्छा।

पूज्य श्री बापूजीने मधुमक्खियोंसे कुछ सवाल पूछे है। अुनमेंसे अेक सवाल यह है: 'क्या हमारा यह छत्ता आश्रमरूपी छत्तेकी कुछ झलक या नकल होगी? या अुसका हमारे जीवनके साथ कुछ सम्बध ही न होगा?'

चर्खा आश्रमप्रवृत्तिका केंद्र है। चर्खेका अध्ययन जितना हमारे आश्रममें होता है अुतना हिन्दुस्तानमें और कहीं शायद ही होता होगा। फिर भी छत्तेमें चर्खेका गुंजारव क्यों नहीं है? चर्खेका काव्य, अुसकी रचना, अुसका मिजाज़ आदि सब बातो पर आप बहुत कुछ लिख सकते हैं। पुराने विद्यार्थी चर्खेके विकासके बारेमे बहुत कुछ लिख सकते हैं। चर्खेके प्रान्तभेद पर अेक सचित्र लेखमाला बालकोबाजी की मददसे तैयार की जा सकती है। हमने चमरख़ के कअी प्रकार आजमाये हैं और पैदा किये हैं। हरअेक के गुणदोषोंपर लेख लिखे जा सकते हैं। छोटूभाअीको पकड़कर नीलेश्वर—मलबार की धुनकीके विषयमें कीमती जानकारी ज़रूर हासिल की जा सकती है। खादी —प्रतिष्ठान की प्रवृत्ति के बारे में श्री मगनलाल भाअीसे आप ज़रूर अेक लेख प्राप्त कर सकते है। अरुणबाबू और प्रफुल्लबाबू हमारे यहाँ रहके गये है। अुनसे भी जानकारी ली जा सकती है। हमारे रामचन्द्र बडवी कर्नाटकमें खादी और हरिजन का अच्छा काम कर रहे है। अुनसे आप ख़तपत्र मँगा सकते हैं। श्री जीवतराम कृपालानीजीके प्रौढ विद्यार्थियोंके दस—बीस खादीके केन्द्र हैं। अुनसे नयी नयी जानकारी ज़रूर मिल सकती है। काँजी चढ़ानेके शास्त्रके बारेमें भी हम बहुत कुछ लिख सकते है। अपनी परेशानियोंको क़लमबद्ध करें तो भी वह कम सेवा नहीं है।

दूसरी प्रवृत्ति बढ़अी कामकी, मैं नहीं जानता कि अिस विषयपर देशी भाषामें किताबें हैं या नहीं। बड़ौदे के 'कलाभवन' ने अेकाध तैयार की हो तो मुझे पता नहीं। और अगर की हो तो भी अुसमें पारिभाषिक शब्द तो अंग्रेजीके ही आने के। अहमदाबादके बूढ़े बढ़अियोंसे अुनके पारिभाषिक शब्द प्राप्त करने का काम क्या हम शहरके किसी व्यक्तिपर नहीं सौंप सकते? श्री बचुभाअी रावत शायद अिसमें हमारी मदद कर सकते हैं।

हमारी तीसरी और सबसे महत्त्वकी प्रवृत्ति है प्रार्थना। गीता है, तुलसी रामायण है, भजन हैं—अिनकी प्रतिध्वनि 'मधुसंग्रह' में क्यो नहीं सुनाअी देती? रामायण के बारेमें लिखने का ठीका मानो श्री चद्रशंकर को ही दिया गया है। हिन्दी भजनों पर गुजराती मे कितना अच्छा अच्छा लिखा जा सकता है। गीता मे आये हुअे महत्त्वके शब्दों का विस्तृत अर्थ लिख दें तो वह लिखने और पढ़नेवालों के लिये कितना अुपयोगी साबित होगा। हमारे प्रिय भजनों की स्वरलिपि पंडितजी की मदद से मधुसंग्रहमें क्यों न आये? भजनावली में आये हुये रागों के स्वर और आरोह-अवरोह देकर रागोंकी तुलना करनेवाले लेख विद्यार्थी भी तैयार कर सकते है। प्रत्येक 'मधुसंग्रह' मे अेकाध सुन्दर भजन और अुसका अर्थ देनेका रिवाज चालू करें तो थोड़े ही बरसोंमें अेक अच्छा सार्थ भजन-संग्रह तैयार हो जायगा।

'मधुसंग्रह' के अलग अलग विभाग करके अेक अेक विभाग की ज़िम्मेदारी अुस अुस विषयमें दिलचस्पी रखनेवाला विद्यार्थी ले लें तो 'मधुसंग्रह' विकसित होगा और सहकार-शक्ति बढ़ेगी। लेकिन संपादक या संपादक-मंडल का निर्णय प्रसन्नताके साथ मान लेनेकी आर्यता हरेकमे होगी तभी यह प्रबन्ध फलदायी हो सकेगा।

हमारे यहाँ स्वयंपाकी बहुत है। छोटे छोटे मंडल भी है। अुनमे कुछ

तो वैज्ञानिक ढंगसे अपना रसोअी-घर चलाते होंगे। वह अगर अपनी पद्धति और समयका वजट 'मधुसंग्रह' मे प्रकट करें तो वह प्रवृत्ति भी हम अधिक शास्त्रशुद्ध कर सकते हैं।

प्रवासके वर्णन 'मधुसग्रह' में काफी आते हैं। अिस दिशामें भी हम आगे बढ सकते है। अिस सम्बधमें मुझे अितने अधिक विचार सूझते हैं कि अुनमेंसे अेक भी यहाँ लिखनेका दिल नहीं होता।

विद्यार्थी–मंडल, नहानेकी सहूलियत, पानीमें तैरनेका मज़ा, बीमारोंकी शुश्रूषा, गायों और बकरियोंकी लीला, कोठार के विनोद, समय-पत्रकके तरंग, कसरत, खेलोंके वर्णन, आश्रममे आये हुअे मेहमान, बरसातमें कीड़ोकी तकलीफ़, और हर कीड़ेकी खासियत—आदि आदि बहुत कुछ 'मधुसंग्रह' में आ सकता है।

और संस्कृत अध्ययनमेंसे तो कई अच्छे अच्छे फ़िके जमा हो सकते हैं। सारांश, बापूजीने आश्रम और मधुसंग्रहेक अनुसंधानकी जो दृष्टि दी है अुसे अेकवार अच्छी तरह अपनायें तो कई नयी नयी चीजें हमें सूझेंगी।

'मधुसंग्रह' बहुतही अच्छी तरह भरा हुआ है। और अुसके विषयमें बड़ी बड़ी आशाअें रखनेका कारण वह पेश कर रहा है। अिसलिये यह विस्तृत सूचनाअें की है। अिसपर विचार कीजिये; मगर अुस विचारमें मुझ रुग्णको न खींचिये।

पुनश्च:—मुझे यह बादमें मालूम हुआ कि 'वर्षामधु' के प्रगट होने के बाद साबरमतीमे बाढ़ आअी थी।

—१९२९

श्रद्धेय ग्रंथ

प्रत्येक भाषामे कुछ श्रद्धेय आद्यग्रंथ होते है। अुन ग्रंथोंको साहित्य-गंगाकी गंगोत्री कहा जा सकता है। अिस गंगोत्रीके जलका स्नान-पान-अवगाहन अत्यंत पुण्यप्रद होता है। जिस तरह हमें अपने शरीर के सब आन्तरबाह्य अवयवोका पूर्ण परिचय होता है तथा अपना शरीर खूबसूरत हो या बदसूरत, अुसपर हमारी जैसी प्रेमासक्ति रहती है वैसा ही परिचय और वैसी ही आसक्ति अिन आद्य ग्रंथोंके विषयमें होनी चाहिये। 'जो मनुष्य अथसे लेकर अितितक रामायण पढेगा अुसपर गीर्वाण वाणी और कवित्वशक्ति दोनो प्रकट होगी' अिस अर्थवाद में भी यही रहस्य छिपा हुआ है। आद्यग्रंथोंमे अुस अुस भाषाके स्वभावोंका बीजारोपण हुआ होता है। शब्दोंकी बनावट, सुगम प्रत्यय, वाक्यरचना, भाषाशैली, अुपमादि अलंकार, अितनाही नहीं बल्कि अुचित क्या है और अनुचित क्या है, निंद्य क्या है और स्तुत्य क्या है-अिस अभिजात अभिरुचि का भी अिन ग्रंथोंपरसे निर्णय होता है। साहित्यका तथा समाजजीवनका आदर्श अिन ग्रंथोंमेंसे ही मिल जाता है। अतः बृहद् व्याकरण, व्युत्पत्ति, अलंकारशास्त्र, आदिका अध्ययन करनेसे पहले अिन आद्य ग्रंथोंका अध्ययन करना चाहिये।

अिन ग्रंथों द्वारा प्रयुक्त या सूचित पद्धति परसे ही सभी भाषा-शास्त्र बने हुअे हैं। रामायण-महाभारत अलंकार-शास्त्रके अनुसार नहीं रचे गये किन्तु अलंकार-शास्त्रके नियम रामायण-महाभारतके अनुकूल बनाये गये हैं। जिस तरह पहले भाषा और बादमें व्याकरण होता है अुसी तरह पहले सर्वमान्य आद्यग्रंथ और बादमें साहित्यशास्त्र आता है यह बात नहीं भूलनी चाहिये।

अिसलिये अगर किसी भी भाषाका अध्ययन करना हो तो अुसके

आद्यग्रंथोंका रसपूर्वक अध्ययन करना चाहिये, अुन्हें समझ लेना चाहिये, अुन्हें लगभग कंठ करना चाहिये, अुनपर हमारा असीम प्रेम हो जाना चाहिये। —१९२९

: : छठी गूजराती साहित्य-परिषद

कहते हैं कि जो अच्छी तरह सो जाता है वह जागता भी अच्छी तरह है। बड़ी देरतक और आरामसे सोनेके बादकी जागृति आल्हादक और बलप्रद होती है। अिस कथनमें अगर कुछ भी सत्यांश हो तो अैसा अनुमान लगाना चाहिये कि सूरत-अधिवेशन के बाद पाँच साल तक सोयी हुअी हमारी साहित्य-परिषद जब राजधानी-अहमदाबाद में जागी तब वह सफलताके साथ सम्पन्न हुअी होगी। और यह नहीं कहा जा सकता कि अिस अनुमानमे कोअी भूल है। जिस परिषदमें श्री ानन्द शंकर भाअी जैसे आचार्य, श्री केशवलाल ध्रुव जैसे साहित्य—सागर के मीन, श्री रमणभाअी जैसे रसिक, श्री नरसिंहराव जैसे चिकित्सक, श्री ब. क. ठाकोर जैसे अितिहासनिष्णात पधारे थे और जिसका नेतृत्व प्राचीन साहित्यके कँटीले मार्ग को सीधा करनेवाले साहित्य सेवाधुरीण श्री हरगोविन्ददास काँटावालाने स्वीकारा था, वह परिषद सफल हुअी या नहीं यह प्रश्न ही धृष्टतापूर्ण समझा जायगा। तिस पर, अिस परिषदको अपने शुभागमनसे आशीर्वाद देनेवाले तपस्वी महात्मा गांधी और साहित्य-सम्राट रवीन्द्रनाथ ठाकुरके नाम सुनते ही सब शंका अेकदम दूर हो जानी चाहिये।

परिषद अत्यन्त अुत्साह और आनन्दके साथ सम्पन्न हुई। कोकिलकंठ रवीन्द्रके श्रवण-रुचिर पंचम स्वरसे अहमदाबादका वसन्त निनादित हुआ। ‘आपको अपने प्रयाससे जनसमाजमे पवित्र और प्राणवान

चैतन्य डालना चाहिये, यह महात्मा गांधीजीकी याचना सुनकर साहित्य-सेवकोंको नयी दृष्टि मिली। और आचार्य आनन्दशंकर ध्रुवके शुभाग्रहसे गुजरातमें अेक गुर्जरी विद्यापीठ या विश्वभारती (युनिवर्सिटी) की स्थापना करनेका निश्चय हो कर गुर्जर गिराके अुपासकोंको कार्यक्षेत्र मिलनेकी भी सहूलियत हो गयी। अिस तरह परिषद का पुण्याहवाचन बहुत अच्छा हुआ। लेकिन परिषद कोअी केवल तीन दिनकी बात नहीं है। पाँच सालमें साहित्यसेवाके नाम सिर्फ़ तीन दिन देनेसे साहित्यसेवा नहीं हुआ करती। यह तीन दिन साहित्य-सेवा करनेके होते भी नहीं। वास्तवमें अिन तीन दिनोंमें अबतक की हुअी सेवाका हिसाब या पक्का चिट्ठा निकालना होता है। और अिस हिसाबके परिणाम स्वरूप साहित्य-सेवा की नयी दिशा निश्चित करके अुस दिशामें अुत्साह और लगनके साथ कार्य करनेका निश्चय करना होता है। यह निश्चय ब्राह्मणोंके आशीर्वादकी तरह खाली खोखले प्रस्तावोंसे नहीं किया जाता। लेकिन काम कौन करे, किस तरह करे, किसकी देखरेखमें काम हो—आदि बातोंकी आयोजना तैयार करके अुसकी पूर्तिके लिये सब आवश्यक सहूलियतें मुहैया करके वह निश्चय प्रकट होना चाहिये। हमें लगता था कि यह परिषद पुरानी लकीरमेंसे छूटकर कुछ नया मार्ग लेगी, लेकिन हमें यह स्वीकार करना ही चाहिये कि तीन दिनोंका कार्यक्रम देखकर कुछ निराशा हुअी। अिसमें कोअी शक नहीं कि परिषदमें अुपस्थित जनसमाजके मनमें श्री रा. ब. कांटावाला या प्रा. ठाकोर जैसे विद्वद्रत्नोंके बारेमें जो आदर था अुसका बदला दो दो मील लम्बे भाषण या लेख श्रोतृसमुदाय के मत्थेपर मारकर लेनेमें अुन्होंने औचित्य का भंग किया और लोगोंके धीरजकी बड़ी कड़ी कसौटी की। अगर साहित्य-परिषद द्वारा कुछ भी ठोस काम कराना हो और लोगोंके कीमती वक्तका अधिकसे अधिक अुपयोग

करना हो तो परिपदका वहुत कुछ काम बैठकसे पहले ही कर लेना चाहिये। लम्बे लम्बे भापण और लेख पहलेसे ही छपवाकर परिषद्के सदस्योंमें आठ दिन पहले बाँटे जायँ तो परिषदको दूसरा महत्व का काम करनेके लिये बहुत कुछ समय मिल जायगा। कमसे कम परिषदसे अेक दिन पहले यह व्याख्यान जनतामें बाँटकर वह परिषदके सामने पढ़े गये है अैसा माना जाय तो भी लोगोंको कुछ कम राहत न मिलेगी, यूरपमें बहुत बार अैसा ही किया जाता है। फिर अगर किसी विद्वान को अपने लेखमेंसे कुछ टुकड़े पढ़ सुनानेकी अुत्सुकता हो या लोगोंका सुननेका आग्रह हो तो दस–बीस मिनट देनेमें किसी को कोई आपत्ति न होगी। मसलन् श्री केशवलाल हर्षदराय ध्रुवने परिषदमें 'वनवेली' छंद का जो नया अवतार बताया वह जितना आवश्यक था अुतना ही चित्तरंजक भी था। परिषदने अिस साल अितिहास विभाग, विज्ञान विभाग, साहित्य विभाग तो किये, लेकिन अलग अलग निबंध अलग अलग समयपर और अलग अलग स्थानपर पढ़नेकी सहूलियत के अलावा कुछ ज्यादा फ़ायदा अिस विभागीकरण से हुआ नहीं दिखाअी देता। अिसमें भी परिपद नया रास्ता शुरू कर सकती थी। परिपदसे–दो-अेक महीने पहले सदस्योंकी नामावली निश्चित करके यदि यह तै किया होता कि प्रत्येक सभासदको किस विभाग मे दिलचस्पी लेना है, और विभागके अध्यक्षको भी पहलेसे ही काम करनेकी प्रेरणा दी होती तो प्रत्येक विभागके अध्यक्ष अपने विभाग मे कौन कौनसे प्रस्ताव पास करने है, क्या क्या काम करना है आदिकी चर्चा सब सभासदो के साथ पत्रद्वारा करके कुछ न कुछ निर्णयपर आ जाते और प्रत्येक सदस्य प्रत्येक विषयपर परिपूर्ण विचार करके, सिर्फ़ प्रेक्षकोंका काम करने के वजाय, अिस भावनाको लेकर आ जाते कि कुछ अधिक अुत्तरदायित्व अपने पर है। और तब कुछ न कुछ काम हो जाता।

हमारी दृष्टिसे साहित्य-परिषद्का प्रमुख कार्य है साहित्यको तथा जनसमाजके पुरुषार्थको अिष्ट दिशा की ओर मोड़ना। और अिसलिये साहित्यपरिषद निग्रहानुग्रह-समर्थ होनी चाहिये। आजकल हिन्दुस्तानकी सभी भाषाओंके साहित्यमें, और खासकर हमारे गुजराती साहित्यमें, अेक किस्मका अराजका फैला हुआ है। अनधिकारी लोग चाहे जैसे ग्रंथ लिख डालते हैं और अविवेकी प्रकाशक सस्ते भावसे अुनका प्रचार कर के साहित्य को हानि पहुंचाते हैं। फलतः अधिकारी लेखकोंको अेक कोने मे पड़ा रहना पड़ता है। अेक ही विषयपर दो किताबें लिखी गयी हों तो अेक बार सस्ते दामोंमें बेकार पुस्तक खरीदने के बाद ज्यादा कीमत देकर दूसरी अच्छी किताब लेनेका अुत्साह ग्राहकोंमें कहाँसे हो? कमसेकम आज तो वह बिलकुल नहीं है। और अिस वजहसे साहित्यके अुद्यानमें अितने झाडझंखड अुग हैं कि फलके पेड़ों और काव्यलतिकाओं के लिये जीना भी मुश्किल हो गया है। अिस कठिन स्थितिमें से निकलना हो तो साहित्य-परिषदको अेक विवेचक-विभाग का निर्माण करना चाहिये, जिससे प्रकाशित होनेवाले साहित्यपर परिषद्की रसिक किन्तु चिकित्सक, अुदार किन्तु निष्पक्ष दृष्टि हमेशा रहेगी। बेकार या हानिकर साहित्यका प्रखर आलोचनासे निग्रह होना चाहिअे और जीवनदायी तथा रसपूर्ण साहित्यपर गौरवका अनुग्रह होना चाहिये। लोग आर्डर देकर मिलोंसे चाहे जैसा माल तैयार करवाते हैं, अुस तरह पुरस्कारका लालच दिखाकर मौलिक ग्रंथ नहीं लिखाये जा सकते। फिर भी अनुवादोंके बारेमें कुछ व्यवस्थित काम हो सकता है। सर्वमान्य शिष्ट ग्रंथोंके अनुवाद सरल और प्रमाणभूत होने चाहिये। लेकिन 'माअिल स्टोन्स अिन गुजराती लिटरेचर' जैसी किताबका भी अनुवाद साहित्य-परिषद कराये और मूल गुजराती लेखकको गुजरातीमें मौलिक अितिहास लिखनेपर मजबूर न करे तो यह नहीं कहा जा

सकता कि साहित्य परिषदने अपना कर्तव्य अच्छी तरह जाना या पूरा किया है। दुनियाकी सभी भाषाओंमें जितने सुन्दर ग्रंथ हैं अनका गुजराती अनुवाद पैसा खर्च करनेसे हो सकता है, लेकिन अुससे गुजराती भाषाकी या समाजकी सेवा होगी ही अैसा माननेका कोअी कारण नहीं। जिस तरह सेर दो सेर अनाज चबाकर या बग़ैर चबाये खानेसे मनुष्य की शक्ति नहीं बढ़ती, बल्कि अपनी शरीर-रचनाके अनुकूल रूपमें अुसे पकाकर शरीर जितना कुछ हज़म कर सके अुतना ही खानेसे शक्ति बढ़ती है, अुस तरह सामाजिक जीवनमें जितना हज़म हो अुतना और अुसी तरह समाजको दिया जाय तो भाषाकी अुन्नति होगी। अिस दृष्टिसे देखते हुअे गुजराती कॉलेजकी स्थापना का विचार अत्यन्त महत्त्वका और अिष्ट है, क्यो कि अुस कालेजमें गुजराती ग्रंथोंका अध्ययन होगा। और यह सार्वत्रिक अनुभव है कि स्वभाषामें किये हुअे अध्ययनका देखते देखते प्रसार होता है। यह कालेज जितना जल्दी खुलेगा अुतनी विज्ञान, अितिहास, साहित्य आदि विभागोंकी सार्थकता मालूम होगी। प्राचीन साहित्य पुस्तकस्थ तो हुआ, मगर अभी कंठस्थ नहीं हुआ है। अिग्लैंडका अितिहास गुजराती भाषामें आया मगर गुजरात के राजनैतिक जीवनमें नहीं आया। प्राचीन साहित्य जब अध्ययनके साथ हमारी विचारसृष्टि में अुतरेगा और अुससे हमारी विचारपद्धतिमें अुचित परिवर्तन होगा, तभी अुसे हज़म हुआ समझना चाहिये। वैष्णवोंमें द्वारका अथवा डाकोरजीके विषयमे जो प्रेम और अभिमान रहता है, स्वामी नारायण संप्रदायके लोगोमें अपने संप्रदायके प्रति जो आदर रहता है और आजकलके राजनैतिक पुरुषोंमे कांग्रेसके बारेमे जो ममत्व होता है, वैसा प्रेम, अभिमान, आदर और ममत्व जब गुर्जर विद्वान साहित्य-परिषदके प्रति बतायेंगे तभी साहित्य-परिषदका कार्य प्राणवान् और चिर-स्थायी होगा। साहित्य-सम्राट रवीन्द्रनाथ ठाकुरकी अनुकरणीय मिसाल

हमारे सामने है ही। अुन्होंने अनेक प्रकारसे बंगाली साहित्यमें वृद्धि की है, नवयुवकोंका दिशादर्शन किया है और तन-मन-धन अर्पित करके साहित्यके अेक विद्यापीठकी स्थापना की है। गुजरातमें भी वैसा ही होवे और गरवी गुजरातका 'झळळळ कुसुंबी ध्वज प्रकाशे' अैसी हमारी हार्दिक प्रार्थना है।

—मार्च १९२०

: : पडोसियोंका साहित्य-संसार

(गुजर ती-साहित्य-सम्मेलन)

पिछले अक्टूबर-नवंबर के संधिकालमें अहमदाबादमें गुजराती साहित्य-सम्मेलनकी अेक बैठक हुअी। अिस सालके सम्मेलनमें कुछ विशेष बाते नजर आयीं। अुन्हींपर यहाँ विचार करना है। क्योंकि अुन विशेषताओंके कारण ही अिस सालका सम्मेलन महत्त्वका हुआ है और भावी प्रगतिकी आशाओंका बीज भी अुन्हींमें निहित है।

गुजराती साहित्य-सम्मेलनकी स्थापना अहमदाबादमें हुअी थी। अुसके बाद छठा सम्मेलन अहमदाबादमे हुआ और अभी अभी जो सम्मेलन वहाँ सम्पन्न हुआ वह बारहवाँ सम्मेलन था। यह तीन सम्मेलन प्रगतिकी तीन सीढ़ियाँ कही जा सकती है। स्थापनाके समय रणजीतराम वावाभाअी सम्मेलनके सूत्रधार थे। अिस हेतु, कि और प्रान्तोंकी तरह गुजरात भी साहित्यके क्षेत्र में आगे बढे अुन्होने सम्मेलनका सूत्रपात किया। छठे सम्मेलनमे कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर और महात्मा गांधी दोनों अुपस्थित थे। अिसलिये वह सम्मेलन खास तौरपर चमक अुठा था। अिस सम्मेलनमे साहित्यके साथ ही चित्रकला, नृत्य, देशी अुत्सव आदिको महत्त्वका स्थान मिला था। गुजरात

युनिवर्सिटीकी स्थापना करनेकी कल्पना भी अिसी सम्मेलनमें पहले पहल ज़ोर देकर पेश की गयी थी। विद्वान लोगोंको कल्पनाअें तो झटझट सूझती हैं और अपनी योजनाओंको वह कागज़पर अच्छी तरह अंकित भी कर सकते हैं। गुजरात युनिवर्सिटीकी कल्पना लोगोंके सामने पेश करनेवाले डाक्टर आचार्य आनन्दशंकर ध्रुव स्वयं गांधीजीकी सिफ़ारिशसे बनारस हिन्दू युनिवर्सिटीके प्रो-वाअिस-चैन्सेलर बन गये; और गांधीजीके अनुयायियोंने गुजरात विद्यापीठकी स्थापना की। अभी अभी जो बारहवाँ सम्मेलन हुआ अुसमें भी फिरसे नये अुत्साहके साथ कुछ रचनात्मक प्रस्ताव पास हो गये हैं। अुनके अनुसार जितनी मात्रामें प्रत्यक्ष कार्य होगा अुतनी ही मात्रामें सम्मेलन की बैठक कामयाब समझी जायेगी।

अेक तरहसे देखा जाय तो यह माना जा सकता है कि हिन्दुस्तान के सभी प्रान्तोमें साहित्य-परिषदों तथा सम्मेलनोंकी प्रवृत्तिमें अेक मंज़िल पूरी हुअी है। अब अगर अिस प्रवृत्तिको नयी दिशा न मिली तो यें परिषदें और सम्मेलन अकर्मण्य बनकर लुप्त हो जायेंगे। बिलकुल शुरू शुरूमे प्रस्ताव पास करनेका अितनाही अर्थ था कि लोगोको सोचने के आदी बनाना तथा किसी भी प्रश्नपर लोकमतको केन्द्रित करना। अब हमारा राष्ट्र अलग अलग क्षेत्रोंमें आगे बढ़ा है। अब साहित्यके क्षेत्रमें भी परिषदोंको कुछ न कुछ ठोस रचनात्मक और संगठित कार्य करके दिखाना चाहिये।

ज्ञाति-संस्था तथा ज्ञातिकी परिषदें, स्कूलों या कालेजोंमें हरसाल होनेवाले प्रीतिसम्मेलन, दशहरा तथा होली जैसे अुत्सव, गणेशचतुर्थी या दिवाली जैसे त्यौहार तथा अुनके कार्यक्रम आदि सार्वजनिक समारोह अब अितने यांत्रिक और बासी हो गये हैं कि अिनमेंसे किसी भी अवसरपर स्वयं अुपस्थित रहे बिना और अुनकी कार्यवाहीकी कोअी भी जानकारी प्राप्त

किये बिना अुनके विवरण लिखे जा सकते हैं और अुनकी आलोचना भी की जा सकती है। जब किसी भी प्रवृत्तिमेंसे प्रेरणा और अुत्साह कम होने लगते हैं तब अुसे सिर्फ़ क़वायत और कर्मकांडका स्वरूप प्राप्त होता है।

गुजरातके साहित्य-संगठनके बारेमें श्री कन्हैयालाल मुनशीका नाम विशेषरूपसे सामने आता है। साहित्य-सम्मेलनके विविध कार्य जो नियमित रूपसे सालभर कर सके अैसी अेक साहित्यपरिषदकी स्थापना करके और अुसका अेक मज़बूत विधान तैयार करके अुन्होंने अुसे बाक़ायदा सरकारी दफ्तरमें दर्ज कराया। जबसे यह विधान तैयार हुआ है तब से यह नुक्ताचीनी शुरू हो गयी है कि विधान किसी किलेके समान दुर्भेद्य है और मुनशीजीके मंडलके ही लोग परिषदमें रह सकते हैं। दो सम्मेलनोंमें बुरी तरह हमले होनेपर भी यह विधान अबाधित ही रहा; लेकिन साथ साथ टीकाटिप्पणियोंका ज़हर भी क़ायम रहा। आखिर दोनों पक्षोंको अैसा लगा कि अिस साल अगर महात्मा गांधी अध्यक्षपद स्वीकार करें तभी अुनके बीचबचावसे सम्मेलन और परिषद दोनो अबाधित रहेंगे और दोनोंमें ंधि हो सकेगी। दोनों पक्षोंकी अुत्कट अिच्छा होनेसे अिस साल महात्माजीको अध्यक्षपद स्वीकार करना ही पड़ा। स्वयं गांधीजीने तथा अुनके नसीबने अिस ज़िम्मेदारीको टालने की हज़ार कोशिशें कीं, फिर भी आख़िरकार लोगोंका संकल्प ही अधिक बलवान साबित हुआ।

महाराष्ट्र जैसा गुजरातमें यह झगड़ा नहीं है कि परिषदका सम्मेलनके साथ किस प्रकारका सम्बन्ध होना चाहिये। परिषद ही सम्मेलनका संचालन करे तो अुसमें वहाँ असन्तोष नहीं है, लेकिन वहाँ अिस तरहकी माँग है कि परिषदकी फौलादी घटना कुछ लचीली करनी चाहिये, जिससे नये तत्त्व परिषदमें दाखिल हो सकें और परिषद अधिक कार्यकारी हो सके। परिषदके पास पैसा है, प्रतिष्ठा है और कुछ अुत्साही

कार्यकर्त्ता भी हैं। [ ] स प्रश्नकी भी वहाँ चर्चा होती है कि परिषदका कार्यालय कहाँ हो। लेकिन काम करनेवाले लोग तैयार हों तो कार्यालय चाहे जहाँ रखने के लिये परिषदके संचालक राज़ी हैं। महाराष्ट्रकी तुलनामें गुजरात प्रान्त बहुत कुछ मर्यादित है। अुत्तर गुजरात और काठियावाड में देशी रियासतें ही ज्यादा हैं, अिसलिये वहाँके वायुमंडलमें दम घुट जाता है। : बंबअी, सूरत, बडौदा, नड़ियाद और अहमदाबाद अितनेही शहरोंका सवाल रहता है, [औ]र यह सभी स्थान रेलसे सिर्फ़ दो-चार रुपयोंके फ़ासलेपर होनेसे स्थानका प्र अधिक अुग्र स्वरूप नहीं ले सकता।

गांधीजीके विश्वतो-मुखी आन्दोलनमेसे साहित्य-विषयक कार्य विद्यापीठ और नवजीवन संस्थाके हिस्सेमें आता है। यह दोनों संस्थाअें बतक सम्मेलन-परिषदके बारेमें बिलकुल अलिप्त अुदासीन रहकर नम्रता के साथ अपना काम करती आयी हैं। अिस साल जिस तरह गांधीजी को अिस प्रवृत्तिमें भाग लेना पड़ा अुसी तरह विद्यापीठ और नवजीवनके साहित्य-सेवकोंको भी सम्मेलन-परिषदमें भाग लेना पड़ा। और अिसीलिये श्री कन्हैयालाल मुनशी अब अभिमानके साथ कह सकते हैं कि अखंड रूपसे साहित्य-सेवा करनेवाला अेक भी महत्त्वका मंडल अब परिषदसे बाहर नही रहा है। जो हो, अिसके बाद साहित्य-परिषदको रचनात्मक कार्य करके ही अपना अस्तित्व कृतार्थ कर दिखाना पड़ेगा।

गुजरातमें संगीतके सम्मेलन होते हैं; चित्रकलाकी प्रदार्शनियाँ भी बहुत अच्छी तरह सम्पन्न होती हैं, बंगालकी तरह गुजरातने भी चित्रकलामे अपना खास तर्ज चलाया है। पिछले दस-पन्द्रह बरसोंमे चित्रकला और संगीत कलामें गुजरातने अच्छी प्रगति कर दिखाअी है। पत्रकारोंने भी आज तक अेक दो परिषदें कीं। साहित्य-सम्मेलनमें अिस वक्त पहली ही बार वृत्तविवेचनका विभाग रखा गया था। अिस

विभागके प्रमुख श्री महादेव देसाओी को अपना भाषण बहुत जल्दीमें लिखना पड़ा था, फिर भी वह गहरे अध्ययनवाला, सांगोपांग चर्चा करनेवाला तथा दिशा सूचन करनेवाला हुआ। धर्म और दर्शन विभागका भाषण भी कुछ कम महत्त्वका न था। भौतिक विज्ञानका विभाग समाजविज्ञानका विभाग, पुरातत्त्वका विभाग, तथा कलाविभाग—अिन सब विभागोंसे सम्मेलन सकलांगपूर्ण बना था। खास दर्ज करने जैसी बात यह है कि साहित्य-सम्मेलनमें भी साहित्यका विभाग अलग किया गया था।

पास हुअे प्रस्तावोंमेंसे अेक प्रस्तावके अनुसार परिषदकी घटना या विधान नये सिरेसे विचार करनेके लिये गांधीजीकी अध्यक्षतामें नये पुराने दलोंकी अेक संयुक्त समिति नियुक्त की गयी है। गांधीजीने अपने भाषणमें अिस बारेमें स्पष्ट रूपसे ज़ाहिर किया था कि, विधानमें किस तरह प्रवेश किया जा सकता है अिसका राजमार्ग मैं आपको बता दूँगा; लेकिन साहित्य-परिषदमें अगर आप मॉबोक्रसी चलाने जायेंगे तो संस्था न बचेगी और बची तो कुछ काम भी न कर सकेगी'

दूसरा महत्वका प्रस्ताव गुजराती शब्दोंके हिज्जे निश्चित करनेके सम्बन्धमें गुजरात विद्यापीठ द्वारा किये गये सफल प्रयत्न के अभिनन्दन और अुसके स्वीकारके बारे में था। अब कहा जा सकता है कि गुजरात विद्यापीठ, बंबअी युनिवर्सिटी, सभी देशी रियासतें तथा साहित्य-परिषद सबने अेकधारी शुद्धलेखन का स्वीकार करके चालीस सालके अराजकका अन्त किया।

जहाँ जहाँ गुजराती भाषाका अध्ययन होता है वहाँ वहाँ के पाठ्यक्रमपर देखरेख करनेका प्रस्ताव भी अुतना ही महत्त्वका समझना चाहिये। गुजरातमें गुजरात विश्वविद्यालय की स्थापना करनेकी पूर्व तैयारी बहुत अुत्साह और दृढ निश्चयके साथ चल रही है। अिस प्रस्तावसे अुस कार्यको अच्छा सहारा मिलेगा। अब राष्ट्रकी अितनी प्रगति

अवश्य हुआी है कि सरकार, देशी रियासतों तथा युनिवर्सिटीके वायु-मंडलपर जनमतका ठोस असर पड़ सके।

अखिल भारतीय साहित्य-संगठनके बारेमें गुजरातने जो नेतृत्वपूर्ण भाग लिया था अुसकी तसदीक़ परिषदने पहलेसे ही की थी। अिस साल अलग अलग प्रान्तीय साहित्यमेंसे अुत्कृष्ट रचनाअें गुजरातीमें लानेके सम्बन्धमें अेक प्रस्ताव करके परिषदने अेक क़दम आगे बढ़ाया है। गुजरातकी अनेक प्रकाशन-संस्थाअें अिस बारेमें अच्छी तरह जागरूक हैं और परिषद्‌की ओरसे दिशासूचन होते ही यह प्रवृत्ति बड़े उत्साहके साथ फलने फूलनेवाली है। गुजरातने सभी प्रान्तोंके साथ अपना सम्बन्ध जोड़ना तय किया है, अिस बातका भी यह अेक चिह्न समझा जा सकता है।

स्त्रियोंकी जागृति या नारी-जागरण तो गांधीजीके आन्दोलनके अनेक परिणामोंमेंसे अेक माना जायगा! सार्वजनिक कार्यमें भाग लेनेका दृढ संकल्प गुजरातकी महिलाओंने किया है और अपनी संस्थाअें स्वयं चलानेका बीडा अुठाया है। अिस क्षेत्रमें अहमदाबादके प्रमुख मिलमालिक श्री अंबालाल साराभाअी की सुपुत्री मृदुलाबहन सहज ध्यान खींचती है। अुनकी प्रेरणासे चलनेवाले ज्योतिसंघकी प्रवृत्ति कोअी मामूली प्रवृत्ति नहीं है। हमारे साहित्यकार आजतक नारीकी निन्दा करते आये है। या अब अुन्हें 'देवी' कहकर अुनकी खुशामद करने लगे हैं। यह दोनों चीजें अनिष्ट हैं। स्त्रियोंको मनुष्यत्व के सामान्य अधिकार होने चाहिये और मनुष्यत्वका सर्वसाधारण आदर्श ही अुनके आगे रखा जाना चाहिये—अिस तरहकी माँग ज्योतिसंघने सम्मेलनमें अुपस्थित साहित्यसेवकोंसे की और गांधीजीने बहुत ही संजीदगी के साथ अिस माँगकी तसदीक की।

प्रेस अैक्ट और आर्डिनेन्सका निषेध गुजरात साहित्य सम्मेलन ने

नहीं किया। यह बात वहाँकी प्रगतिकी द्योतक है। महाराष्ट्रने अिन दोनों बाबतोंमें सरकारी नीतिका अेक खास ढंगसे विरोध किया, यह बात भी महाराष्ट्र साहित्य-सम्मेलनकी प्रगतिका ही द्योतक है।†

नवंबर १९३६

† यह लेख मराठी पाठकोंको मद्दे नज़र रखकर मूल मराठीमें नागपूर के 'विहंगम' लिये लिखा हुआ था—प्रकाशक

मुद्रक : आर. आर. बखले, बम्बई वैभव प्रेस, गिरगाम नं. ४.
प्रकाशक : अेम. के. वोरा, वोरा अॅन्ड कंपनी, पब्लिशर्स लिमिटेड बम्बई, नं. २.

हमारे राष्ट्रीय और ंस्कारी प्रकाशन

[श्री प्यारेलालजीकी प्रस्तावना के साथ]

१. गांधीजी ` पर्कमें : सरदार पटेलके आशीर्वचनके साथ सं. श्री चंद्रशंकर शुक्ल। गांधीजीके दैनंदिन जीवनके सत्य, शिव, सुन्दर स्वरूपका दर्शन करानेवाली कृति, जो उनके अनुयायी, प्रतिगामी ार निरपेक्ष ऐसे ३२ स्त्री-पुरुषोंकी कलमसे उतरी है औ अबतक अप्रकाशित थी। सजिल्द, चित्र पृष्ठ संख्या २२४ मू. ३।)

२. गांधीजीकी यूरे -यात्रा : ले. म्यूरिअल लेस्टर, अनु० श्री 'रंजन' र्मा, सचित्र !
लन्दनमें योजित द्वितीय गोलमेज-परिषद्के समय गांधीजीने उक्त परिपदके अलावा इंग्लै और यूरोप के जिन विभिन्न प्रसंगोमें योग दिया उनके रेखचित्रोंकी एक गांधीवादी विदूषी द्वारा भारतको अनुपम देन ! उक्त परिषद. सम्बन्धी आजतक प्रकाशित पुस्तकोंमें केवल यही एक ऐसी पुस्तक है जिसमें स्व० सम्राट् पंचम जार्जसे श्री गांधीजीकी मुलाक का विस्तृत वर्णन दिया गया है। सचित्र: पृ. १५८: मू. २।)

३. नेत ा सुभाषचंद्र ` : सं. प्रल्हाद ब्रह्मभट्ट; अनु० सुधाकर त्रिवेदी। एक ऐसा बेजोड़ जीवन-चरित्र जो सदियोंतक किसी भी देशाभिमानीको पनी आजादी ` लिये लड़नेकी प्रेरणा देता रहेगा। सचित्र, सजिल्द मू. ३)

४. वीरां अरुणा ` : सं. रेश गांधी; अनु० 'दर्शन' आधुनिक भारतीय क्रांति करनेवाली वीरांगनाकी रोमांचक गौरव-गाथा। सचित्र : सजिल्द मू० २)

५. `शिक्षा- ` — मू० १।)

६. भारत-दर्शन ले. काकासाहब कालेलकर (छप रहा है)

७. रेता ,, ,, ,, ,, ,,

मौलिक साहित्य

१. नगीने : (कहानी - संग्रह) मौलिक, ले. पं. सुदर्शन)
'नगीने' की एक एक कहानी एक नगीना है, और खासकर इस संग्रहकी 'आप बीती' तो इसका मुकुट-मणीही है।
सजिल्द : पृष्ठ संख्या २०८, मू. ३)

२. शेषद : (कहानी-संग्रह) मौलिक ले. वीरेन्द्र कुमार

[भूमिका : श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी]

अभिनव कहानी-संग्रह, सुन्दर शैली, उत्कृष्ट चित्रण, मू. २॥)

३. उर्दूके अदीब : (उर्दूके साहित्यिकोंका संक्षिप्त परिचय) ले. श्रीपाद जोशी। आचार्य कालेलकर और महाशय सुदर्शन द्वारा प्रशंसित। हिन्दुस्तानी के प्रेमियों और प्रचारकोंके कामकी पुस्तक। पृष्ठ १७९) मू. १॥)

४. अंगूठीका कदमा (लड़कोंके लिये कहानियां) ले. पं. सुदर्शन.

५. बच्चोंका हितोपदेश : (बालकोपयोगी कहानियां) ले. पं. सुदर्शन बच्चोंके भाव, भाषा और चारित्र्यको संस्कारी दिशा प्रदान करनेवाली दो पुस्तकें। सचित्र, सुन्दर छपाई, मू. १)

६. दील के तार : (गीत संग्रह) ले. पंडित सुदर्शन, मू. १।)

७. कृपा-किरन. (भजन संग्रह) ले. रैहाना तैयाबजी, मू. १॥)

८. अ पाली (उपन्यास) ले. रामचन्द्र ठाकुर; अनु० 'दर्शन' बौद्धकालीन भारतकी एक कोमलांगी ललनाके संघर्षमय जीवनका औपन्यासिक चित्रण जो रजतपटपर भी गुण-गौरवका विषय बना। श्री. कन्हैयालाल मुंशी, इतिहासवेत्ता स्व. ओझा आदि द्वारा प्रशंसित। सजिल्द, पृष्ठ संख्या २६४, तिरंगी जेकेट, मूल्य ४)